मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व की "समझदारी": एक आलोचना

(पहला भाग)

- **अभिनव**

मार्क्सवाद की तमाम संशोधनवादी हमलों से हिफ़ाज़त करना किसी भी प्रतिबद्ध कम्युनिस्ट का फ़र्ज़ होता है। बर्नस्टीन के समय से लेकर देंग स्याओ पिंग के समय तक क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों ने संशोधनवादियों द्वारा मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी विज्ञान के विकृतिकरण का खण्डन किया है। यह विचारधारात्मक संघर्ष मार्क्सवाद के विज्ञान की शुद्धता और उसके वर्चस्व को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है।

लेकिन इस वांछनीय कार्य को हाथ में लेने वाले क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट को पहले अपनी थाह भी ले लेनी चाहिए। उसे ज़रा अपने भीतर झांक लेना चाहिए कि क्या वह मार्क्सवाद की संशोधनवाद से हिफ़ाज़त करने के लिए आवश्यक बुनियादी समझदारी रखता है या नहीं। वरना कई बार आप जाते तो हैं नेक इरादों से ओत-प्रोत होकर संशोधनवाद से मार्क्सवाद की रक्षा करने, लेकिन मार्क्सवाद का ही कबाड़ा करके चले आते हैं! ऐसा ही कुछ कारनामा पंजाबी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर ने किया है।

हमने वायदा किया था कि हम जल्द ही सुखविन्दर और उनकी राजनीतिक प्रवृत्ति की बौद्धिक दरिद्रता की विस्तार से आलोचना रखेंगे। अभी तक हमने विशिष्ट प्रश्नों पर इस राजनीतिक प्रवृत्ति की आलोचना रखी थी, जैसे कि राष्ट्रीय प्रश्न, कोरोना संकट और पूंजीवाद से इसके रिश्ते पर इस प्रवृत्ति द्वारा अपनाई गयी षड्यंत्र सिद्धान्त की अवस्थिति, आदि। लेकिन ये सारी निपट ग़लत और विजातीय अवस्थितियां अनायास ही नहीं पैदा हो रही थीं। इनके मूल में आम तौर पर मार्क्सवादी सिद्धान्त के विषय में सुखविन्दर की भयंकर रूप से दरिद्र समझदारी है। यह बौद्धिक दरिद्रता ही है, जो कि उपरोक्त विशिष्ट मसलों पर इस प्रवृत्ति द्वारा अपनाई गई ग़लत अवस्थितियों के मूल में है। सुखविन्दर ने अपने एक व्याख्यान में अभी 2018 में ही अपनी इस बौद्धिक दरिद्रता को पूर्णत: अनावृत्त करके रख दिया था।

इस व्याख्यान में वह पंजाब के भाकपा के एक बुद्धिजीवी जगरूप द्वारा फैलायी जा रही संशोधनवादी गन्दगी को साफ़ करने का बीड़ा उठाकर निकले। लेकिन बस उन्होंने और अधिक गन्द फैला दी है! सुखविन्दर ने मार्क्सवादी दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र और वर्ग संघर्ष व समाजवाद के सिद्धान्तों के जगरूप द्वारा किये

जा रहे विकृतिकरण का खण्डन करने के प्रयास में मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के प्रति अपने अज्ञान और अनभिज्ञता और साथ ही कई मसलों पर आधी-अधूरी, ग़लत और अस्पष्ट समझ को पूरी तरह से अनावृत्त करके रख दिया। इसके अलावा, उन्होंने यह भी दिखाया कि उनमें सामान्य राजनीतिक व ऐतिहासिक जानकारी का चिन्ताजनक अभाव है।

जब हम एक राह के राही थे, तो सुखविन्दर द्वारा जगरूप पर दिये गये व्याख्यान में मौजूद मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की समझदारी के स्पष्ट अभाव पर हम अपनी आलोचना उसी समय रख चुके थे। **अब जब कि हमारी राहें अलग हो चुकी हैं, तो उस व्याख्यान में निहित अज्ञान, ग़लत और अधकचरी समझदारी से अपने निर्णायक विच्छेद और मतान्तर को सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त कर देना आवश्यक है, ताकि सनद रहे और हमें कोई इस समझदारी से कतई 'एसोसियेट' न करे।**

हमारी राहें 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के कौमवादी और भाषाई अस्मितावादी विचलन पर अलग हुईं। लेकिन यह विचलन अनायास ही नहीं पैदा हुआ। **कोई विचलन पैदा होता है, तो उसके पीछे निश्चित विचारधारात्मक व बौद्धिक कमज़ोरियां होती हैं। हम जगरूप पर सुखविन्दर द्वारा दिये गये व्याख्यान की आलोचना यहां इसलिए पेश कर रहे हैं, क्योंकि उनके मामले में भी कौमवादी व भाषाई अस्मितावादी विचलन संयोगवश नहीं पैदा हुआ, बल्कि उसकी जड़ें सुखविन्दर की मार्क्सवाद की बेहद दरिद्र और दयनीय समझदारी में निहित हैं।** आगे आप देखेंगे कि सुखविन्दर की मार्क्सवादी दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र और ऐतिहासिक भौतिकवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की क्या समझदारी है। राष्ट्रीय प्रश्न पर सुखविन्दर की बुण्डवादी व त्रॉत्स्कीपंथी अवस्थिति की आलोचना हमने यहां पेश की है, जिसे सभी पाठक पढ़ सकते हैं:

http://ahwanmag.com/archives/7567

जगरूप के संशोधनवाद के खण्डन की प्रक्रिया में सुखविन्दर ने मार्क्सवादी दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र, ऐतिहासिक भौतिकवाद के बुनियादी सिद्धान्तों और आम राजनीतिक व ऐतिहासिक ज्ञान की दयनीय समझदारी का प्रदर्शन किया है। उनके इस व्याख्यान की करीबी से पड़ताल करने की प्रक्रिया में हम दिखलाएंगे कि उन्होंने **दो प्रकार की ग़लतियां** की हैं: **विचारधारात्मक-राजनीतिक व सैद्धान्तिक ग़लतियां और गम्भीर तथ्यात्मक भूलें।** विचारधारात्मक-राजनीतिक ग़लतियों को हम दो हिस्सों में विभाजित कर रहे हैं: दर्शन के क्षेत्र, यानी द्वन्द्वात्मक व ऐतिहासिक भौतिकवाद के क्षेत्र में की गई ग़लतियां और दूसरा, राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में की गयी भयंकर मूर्खतापूर्ण ग़लतियां। इसके अलावा, अन्त में हम उन तथ्यात्मक भूलों की भी चर्चा करेंगे, जो कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के शिक्षण का काम हाथ में लेने वाले किसी व्यक्ति से होना शर्मनाक है। इस पहले हिस्से में हम दर्शन की ग़लतियों पर केन्द्रित करेंगे, लेकिन

शुरुआत बहस की भाषा, संस्कृति, परम्परा के विषय पर सुखविन्दर के पुराने विचारों से करेंगे, जिन पर अब वह एक चमत्कारिक यू-टर्न मार चुके हैं।

सुखविन्दर ने अपने इस व्याख्यान में कहा है कि जगरूप की पुस्तकें उठाकर झाड़ो तो उसमें से ग़लतियां गिरती जाती हैं और वह इनमें से सिर्फ कुछ ही ग़लतियों पर बात कर सकते हैं, जो कि प्रमुख हैं। *विडम्बना की बात यह है कि स्वयं सुखविन्दर के इस व्याख्यान को झिंझोड़ा जाय तो उसमें से मूर्खतापूर्ण ग़लतियों की बारिश होने लगती है, जिनमें से हम भी सिर्फ कुछ प्रमुख ग़लतियों को ही यहां लेंगे, अन्यथा पूरी पुस्तक ही लिखनी पड़ जाएगी।* हम आगे इन दोनों प्रकार की ग़लतियों की अलग-अलग शीर्षकों व उपशीर्षकों में चीर-फाड़ करेंगे और दिखलाएंगे कि जो सुखविन्दर कह रहे हैं और जो मार्क्सवाद कहता है, उनमें कोई सुदूर का रिश्ता भी नहीं है।

लेकिन उससे पहले हम पाठकों से बहस की परम्परा और संस्कृति के बारे में इस व्याख्यान में सुखविन्दर द्वारा अभिव्यक्त उन विचारों की चर्चा करेंगे, जिनसे आज वह पूरी तरह मुकर चुके हैं। जब हमने राष्ट्रीय प्रश्न और भाषा के प्रश्न पर उनकी आलोचना पेश की, तो बहस से पलायन के बहाने के तौर पर उनका यह "तर्क" था कि हमने उनको 'मूर्ख', 'कौमवादी', 'अस्मितावादी' कह दिया, अब बहस करने का क्या फ़ायदा! हमने कहा कि हमने आपको ये सब कहा, इसीलिए तो आपको बहस करनी चाहिए! फिर उन्होंने कहा कि सही-ग़लत का फैसला सीधे व्यवहार में होगा, मुझे बहस नहीं करनी! फिर उन्होंने कहा कि हमारा व्यवहार और हमारी औकात ही क्या है कि वह हमसे बहस करें!! उन्होंने कहा कि हम बुद्धिजीवी हैं, इसलिए वह हमसे बहस नहीं करेंगे, इत्यादि! **अब जगरूप पर दिये गये व्याख्यान में अभी लगभग डेढ़-दो वर्ष पहले ही बहस की संस्कृति, परम्परा और शैली के विषय में उन्होंने क्या विचार अभिव्यक्त किये थे, आप स्वयं देखें और सोचें कि सुखविन्दर ने अपनी हालिया अवस्थिति से चमत्कारिक यू-टर्न मारा है या नहीं। याद रखें, जगरूप पर दिया गया व्याख्यान फेसबुक पर बहस करने के बारे में 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप द्वारा अवस्थिति बदलने के दावे के बाद दिया गया व्याख्यान है, इसलिए 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप यह भी नहीं कह सकता है कि सुखविन्दर ने 2018 में ही जगरूप पर व्याख्यान में बहस करने की शैली, पद्धति, भाषा के आदि के बारे में जो विचार पेश किये थे, वह अब बदल गये हैं!**

I) राजनीतिक बहस की भाषा, संस्कृति और परम्परा के बारे में सुखविन्दर का चमत्कारिक यू-टर्न

जब हमने राष्ट्रवादी भटकाव और भाषाई अस्मितावाद पर आलोचना करते हुए उन्हें कई ऐसे राजनीतिक विशेषणों से नवाज़ा जिनसे राजनीतिक बहसों में एक-दूसरे को नवाज़ने की बहुत ही पुरानी परम्परा रही है, तो सुखविन्दर ने कहा कि वह हमारा जवाब नहीं देंगे क्योंकि हमने उन्हें "राष्ट्रवादी", "अस्मितावादी", "मूर्ख" आदि कह दिया। हमने इसके जवाब में एक पूरा लेख लिखा (facebook.com/abhinav-sinha/मार्क्सवादी-लेनिनवादी-आलोचना-की-शैली-और-परम्परा-के-विषय-में-चन्द-बातें-और-इतिहास-/3022297837854668)। इसमें हमने बताया कि ऐसे विशेषणों के प्रयोग की मार्क्सवादी-लेनिनवादी आन्दोलन में चलने वाली बहसों में डेढ़ सौ साल से भी अधिक पुरानी परम्परा रही है। लेकिन तब भी वह यही कहते रहे कि इन विशेषणों का प्रयोग करने के कारण वह हमें जवाब नहीं देंगे। हमने कहा कि यह सुखविन्दर द्वारा बहस से पलायन है क्योंकि यह बहस में जवाब न देने का कोई कारण ही नहीं है। फिर उन्होंने कहा कि हमारा ज़मीनी स्तर पर कोई व्यवहार नहीं है इसलिए वह जवाब नहीं देंगे! 1 मई आते-आते उनके इस दावे की भी हवा निकल गयी थी, लेकिन फिर भी हमने कहा कि यह भी बहस में जवाब न देने का कोई कारण नहीं है। **यदि कोई ग़लत बात या कार्यदिशा कोई व्यक्ति भी पेश कर रहा हो, तो कम्युनिस्ट उसका जवाब देते हैं। और विशेष तौर पर जब *आपकी* आलोचना पेश की जा रही है, तब तो जवाब देना ही चाहिए।** लेकिन सुखविन्दर की जिद थी कि वह जवाब नहीं देंगे। **हमने उन्हें आमने-सामने सार्वजनिक बहस के लिए भी आमन्त्रित किया, लेकिन वह नहीं माने।**

अब हम आपको दिखलाएंगे कि सुखविन्दर ने अभी दो वर्ष पहले ही अपने द्वारा अब बोली जा रही इन सारी बातों का खुद ही जवाब दिया था क्योंकि पंजाब में जगरूप समेत तमाम लोग उन्हें भी यही "तर्क" दे रहे थे, जोकि आज वह हमें दे रहे हैं! आइये देखते हैं सुखविन्दर ने इन सारे सवालों पर अभी हाल ही में क्या अवस्थिति अपनाई थी। हम सुखविन्दर को ही उद्धृत करते हुए अपनी बात कहेंगे, ताकि भ्रम की कोई गुंजाइश न रह जाए।

सुखविन्दर कहते हैं:

> *"इंकलाबी के लिए सबसे बड़ी बात इंकलाबी होना ही होता है, यह सच है। लेकिन इंकलाबी संगठन के नेतृत्व के पास विज्ञान की सही समझदारी होना भी ज़रूरी है।"*

इसके बाद वह एंगेल्स के उस कथन की याद दिलाते हैं कि मार्क्सवाद एक विज्ञान है, उसका विज्ञान के तौर पर ही अध्ययन किया जाना चाहिए। लेकिन इसके बाद वह इस व्याख्यान में मार्क्सवादी विज्ञान के बारे में जो बातें कहते हैं, उससे पता चलता है कि उन्हें ही बिल्कुल शुरुआत से इस विज्ञान के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में गम्भीरता से अध्ययन की आवश्यकता है।

दूसरी बात, आज जब उनके सामने विज्ञान और सिद्धान्त के प्रश्न उपस्थित किये जा रहे हैं, तो वह पूछ रहे हैं कि "आपका व्यवहार क्या है, जो मैं आपका जवाब दूं? आपकी बिसात ही क्या है जो मैं आपका जवाब दूं?" आगे देखते हैं कि बहसों की परम्परा, शैली और संस्कृति के बारे में उनके क्या विचार हैं।

सुखविन्दर कहते हैं:

> *"फेसबुक अच्छा मंच नहीं। पहला अच्छा मंच है पत्रिकाएं और दूसरा सेमिनार। वहां लिखी/बोली गयी बात से कोई मुकर नहीं सकता है।"*

आगे वह कहते हैं:

> *"सबसे बढ़िया बात तो होती है कि सामने आकर बहस करो। जो सामने आकर बहस नहीं करता, उसके बारे में कहा जाता है कि वह झूठा है।"*

अब सुखविन्दर के इन उद्गारों के आधार पर उनके आज के बर्ताव और उनकी आज की बातों का विश्लेषण करें। **उन्होंने काफी लम्बे समय तक हमारे साथ फेसबुक पर बहस चलाने के बाद कहा कि फेसबुक पर बहस नहीं करेंगे। हमने कहा कि चलिये पत्रिका में लिखित रूप में कर लीजिये।** नतीजतन, हमने 'आह्वान' में लिखित तौर पर उनकी कार्यदिशा की पूरी आलोचना रखी जिसे आप यहां पढ़ सकते हैं: (http://ahwanmag.com/archives/7557)। **उन्होंने कहा कि हम पत्रिका में भी बहस नहीं करेंगे। हमने कहा कि कोई बात नहीं, आप आमने-सामने आकर बहस कर लीजिये, सारा खर्चा हम उठाने के लिए तैयार हैं।** तब उन्होंने कहा कि हमें आप से बहस ही नहीं करनी! लेकिन उसके बाद 'प्रतिबद्ध' में उन्होंने राष्ट्रीय प्रश्न पर एक भयंकर मूर्खतापूर्ण लेख लिखा जिसमें बिना नाम लिये हमें काफ़ी भला-बुरा कहा। खैर, इसकी विस्तृत आलोचना हम पेश कर चुके हैं, जिसका लिंक हमने ऊपर दिया है। **लेकिन इतना आप स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं कि जब सुखविन्दर खुद आलोचना के निशाने पर चढ़े हैं, तो उन्होंने बहस के उपयुक्त मंचों के बारे में भी अपनी सारी बातें बदल डाली हैं। इसी को हमने पलायन कहा था। आप कहते हैं कि जो आमने-सामने आकर बहस नहीं करता, उसे झूठा कहा जाता है। तो आपके बारे में भी अब ऐसी ही संज्ञा क्यों न इस्तेमाल की जाय?!**

आगे बढ़ते हैं।

सुखविन्दर आगे कहते हैं:

> *"कौन सा विचार सही है इसका फैसला अन्ततः तो व्यवहार में होता है, पर वह बहुत बाद में होता है। पहले तो सैद्धान्तिक बहस से ही फैसला होता है। सुनने वाले को पता चल जाता है कि किसकी बात सही है, चाहे उसकी चेतना का स्तर कम भी हो।"*

अब ज़रा सुखविन्दर के आज के विचारों से उनके द्वारा हाल ही में कहे गये इन शब्दों की तुलना करें! **आज हमसे बहस में पलायन के लिए उन्होंने यह दलील पेश की है कि व्यवहार में साबित हो जायेगा कौन सही है, हमें बहस नहीं करनी! लेकिन अभी दो वर्ष पहले ही तो आप कह रहे थे कि पहले तो सैद्धान्तिक बहस ही होनी चाहिए और उसमें ही सही-ग़लत का पहला फैसला तो हो ही जाता है! आपके अनुसार, सुनने वाले को पता चल जाता है कि कौन सही और कौन ग़लत है! तो अब क्या हो गया?** आप तो आमने-सामने बहस के लिए हमारे द्वारा बार-बार प्रस्ताव रखे जाने पर भी बहस के लिए नहीं आए और यह कह कर भागते रहे कि "हमें ऐसा कह दिया-वैसा कह दिया, इनका व्यवहार नहीं है, व्यवहार में साबित होगा, वगैरह।" स्पष्ट है कि आप कट लेने के लिए पतली गली की तलाश में लगे हुए थे!

और देखें।

इसके बाद सुखविन्दर बताते हैं कि समाज में कोई भी ग़लत विचार आए तो उसकी आलोचना तो करनी ही पड़ती है, चाहे वह किसी धार्मिक बाबा का ही क्यों न हो, कम्युनिस्ट आन्दोलन की तो बात ही अलग है। वह कहते हैं:

> *"जब कोई गलत विचार भी समाज में आता है, मूर्खतापूर्ण विचार भी होता है, तो वह समाज को प्रभावित करता है। इसलिए उसकी आलोचना करनी पड़ती है (सुखविन्दर इसके बाद लेनिन के 'जनता के मित्र कौन हैं' को सन्दर्भित करते हैं कि लोगों को लग सकता है कि हमारे विरोधी के विचार मूर्खतापूर्ण हैं, फिर भी उनकी आलोचना करनी पड़ेगी - लेखक) जैसे सिरसा वाले बाबा के विचारों की भी आलोचना करनी पड़ती है क्योंकि वह समाज को प्रभावित करता है। जगरूप के विचार समाज के लिए ख़तरनाक हैं। इसलिए उसके उद्धरणों को पढ़कर उनकी आलोचना करनी होगी। इससे निरंतरता टूटेगी, हंसी का मौका भी कम मिलेगा, बोरियत हो सकती है, लेकिन इसमें मेरी नहीं, लिखने वाले की गलती है।"*

यानी कि जगरूप जैसे एक बुद्धिजीवी की आलोचना भी की जानी चाहिए क्योंकि उसके विचार समाज के लिए ख़तरनाक हैं! **लेकिन जब खुद सुखविन्दर की कौमवादी व भाषाई अस्मितावादी विचलन के लिए विस्तृत लिखित आलोचना भी पेश की गयी, तो उस पर वह आमने-सामने बहस करके हमारे "ग़लत विचारों" की आलोचना करने से पलायन कर गये।** सुखविन्दर कहते हैं कि उनके इस व्याख्यान में हंसी का मौका कम मिलेगा (वैसे मार्क्सवाद के शिक्षण-प्रशिक्षण में मसखरी कम की जाय और गम्भीरता से अध्ययन करके बात रखी जाय तो बेहतर होता है, हालांकि अच्छे स्तर के हास्य का जहां कहीं भी सन्दर्भ से अनुकूलता बने, वहां इस्तेमाल किया जा सकता है)। *लेकिन सुखविन्दर यहां ग़लत हैं, क्योंकि वह खुद ऐसी*

हास्यास्पद ग़लतियां करते हैं, कि हंसी का काफ़ी मौका मिलता है, जैसा कि आप आगे देखेंगे। **खैर, यहां भी आप देख सकते हैं कि सुखविन्दर किस प्रकार अपनी पुरानी बातों से बिल्कुल पलट गये हैं।**

इसके बाद सुखविन्दर कुछ ऐसा कहते हैं, जो कि शब्दश: उन पर लागू होता है। जिन्होंने कौम और भाषा के सवाल पर हमारे द्वारा उनकी आलोचना को पढ़ी है, वे इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं। सुखविन्दर कहते हैं:

> *"जगरूप की किताब को जितना झाड़ो गलत बातें और मूर्खताएं गिरती हैं। दूसरा वह मार्क्स को गलत कोट करता है। इण्टरनेट ने चोरी लेखन करना, झूठ बोलना और गलत कोट करना बहुत आसान कर दिया है। लोग मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन आदि को गलत कोट करते हैं, जब आप चेक करते हो तो पता चलता है कि ऐसा तो कहा ही नहीं है।"*

आगे हम दिखाएंगे कि स्वयं इसी व्याख्यान में सुखविन्दर ने ऐसे उद्धरण दिये हैं, जो मिस्कोट व दुर्व्याख्यायित किये गये हैं। **साथ ही, उपरोक्त कथन में जगरूप पर लगाया गया एक-एक आरोप स्वयं सुखविन्दर पर शब्दश: लागू होता है। जिन्होंने भाषा और कौम पर सुखविन्दर के लेख की हमारी आलोचना को पढ़ा है, वह जानते हैं कि इण्टरनेट से चौर्य लेखन, झूठ बोलना, ग़लत कोट करना और ग़लत व्याख्या करना स्वयं सुखविन्दर की विशिष्टताओं में शामिल है।**

अब आलोचना की भाषा के सवाल पर भी सुखविन्दर के यू-टर्न को देख लेते हैं क्योंकि जब हमने तमाम प्रश्नों पर उनकी आलोचना पेश की तो उन्होंने हमारी भाषा पर काफी शोरगुल मचाया कि हमने उन्हें "मूर्ख" क्यों कह दिया, हमने उन्हें "राष्ट्रवादी" क्यों कह दिया वगैरह। देखिये कि अभी कुछ ही समय पहले उन्होंने इसके बारे में क्या कहा था और अब वह कैसे पलट गये हैं क्योंकि इस पर आलोचना के एजेण्डे पर वह स्वयं हैं।

सुखविन्दर को हमने राष्ट्रवादी विचलन का शिकार, भाषाई अस्मितावादी कहा तो वह इसको लेकर बहाना बनाने लगे कि हमने तो उन्हें ऐसा कह दिया अब वह बात नहीं करेंगे। देखिये, उन्होंने जगरूप पर दिये अपने अज्ञानतापूर्ण लेक्चर में क्या कहा है:

> *"अब कई लोग दुखी हो जाते हैं कि आप ऐसी भाषा का इस्तेमाल करते हैं। मज़ाक उड़ाते हैं। मज़ाक उड़ाना तो कोई बुरी बात नहीं है, यह तो ज़िंदादिली का सबूत है। कि हम ज़िन्दादिल हैं, हम थोड़ा हंस-खेल लेते हैं। अगर हम किसी का मज़ाक उड़ाते हैं तो अपना मज़ाक सुनते भी हैं। हम ऐसे नहीं हैं कि मैंने तो मज़ाक कर दिया पर मेरे साथ मज़ाक मत करना। हम व्यक्तिगत हमला नहीं करते हैं। हम किसी को मां-बहन की गालियाँ तो नहीं देते हैं। हम यही कहते हैं कि तुम्हारी यह*

*बात मूर्खतापूर्ण है। यह तो कही ही जा सकती है। रोज़ा लक्ज़मबर्ग ने काउत्स्की के बारे में लिखा था कि यह वेश्या है। लेनिन ने कहा कि रोज़ा ने बढ़िया कहा है। **मतलब, वे लोग तो बहुत तीखी शब्दावली का उपयोग करते थे एक-दूसरे के लिए। अपने लोग न थोड़ा डर जाते हैं। आज तो हम बहुत नरम भाषा का उपयोग ही कर रहे हैं, वैसे इससे सख्त भाषा का उपयोग भी किया जा सकता है।***"

अब कौम और भाषा पर बहस करते हुए सुखविन्दर जो कह रहे हैं और तब जगरूप पर भाषण में उन्होंने जो कहा था उसमें फर्क को खुद देखिये:

*"एक व्यक्ति ने मुझे कहा कि तुम मूर्ख हो, मुझे कोई गुस्सा नहीं आया। मैंने कहा ये तुम्हारा स्टैंड है कि मैं मूर्ख हूँ मेरा स्टैंड है कि मैं नहीं हूँ। ये तुम्हारी डेमोक्रेसी है कि तुम्हें मैं मूर्ख लगा, तुम मुझे कहो मुझे इस बात की कोई तक़लीफ़ नहीं है। पर मैं थोड़ा मानता हूँ। मुझे लगता है तुम मूर्ख हो। प्लेखानोव ने लेनिन को कहा कि He is weak in philosophy, लेनिन दर्शन में कमज़ोर है। लेनिन ने कहा कि He is pauper, तुम कंगाल हो। **कम्युनिस्टों में ऐसे बात होती है, कम्युनिस्ट रूठता नहीं है। हमारे यहाँ लोग रूठ जाते हैं। रूठना थोड़ा न चाहिए, ये तो विचारों की लड़ाई है।** इसमें किस बात का गुस्सा है, कि मैं रूठ गया और फिर मनाओ कि भाई ऐसा मत कर, ऐसा मत कर, गले लगाते रहें। रूठना नहीं न चाहिए। संगठन में रहते हुए भी किसी व्यक्ति से रूठना नहीं चाहिए, क्योंकि संगठन में व्यक्तिगत तो कुछ होता ही नहीं है, राजनीतिक होता है। अब कहते हैं कि व्यक्तिगत बातों के कारण फूट पड़ गई। एक राजनीतिक संगठन में गैर-राजनीतिक कारणों से फूट कैसे पड़ सकती है। राजनीतिक कारण कई बार व्यक्तिगत कारणों में प्रकट होते हैं, होते वे राजनीतिक ही हैं। तक़लीफ़ राजनीति की ही होती है।"*

ये ज्यादा पहले नहीं बल्कि 2018 में सुखविन्दर द्वारा कही गयी बातें है। और बिल्कुल सही बात है। अब यही हम कह रहे हैं, तो उन्हें दिक्कत हो रही है। **वह अब इस बात पर अड़ गये हैं कि वह बात नहीं करेंगे क्योंकि हमने उन्हें मूर्ख कहा! क्या इससे ज़्यादा बेशर्मी से भी अवस्थिति बदली जा सकती है? जब बहस से पूंछ उठाकर भागने की नौबत आ जाये, तो इस प्रकार के पैंतरापलट भी करने पड़ जाते हैं!**

यहां दूसरी बात भी ग़ौर करने लायक है। **जब भाषा और कौम पर चल रही बहस के बारे में उनसे पूछा जाता है और वहां वह निरुत्तर हो जाते हैं, तो वह कहने लगते हैं कि भाषा और कौम के सवाल तो प्रमुख सवाल हैं ही नहीं, उनके तो व्यक्तियों की जीवन-शैली और कार्यशैली से जुड़े हुए सवाल हैं! लेकिन तब वह खुद ही कह रहे थे कि फूट तो केवल राजनीतिक कारणों से पड़ती है, व्यक्तिगत कारणों से नहीं! कई बार व्यक्तिगत कारण दिखते हैं, लेकिन वास्तव में राजनीतिक कारण ही फूट का प्रमुख कारण होते हैं।**

यह बिल्कुल सही बात है। आज यही तो हम कह रहे हैं। हमारी राहें अलग हो जाने के कारण राजनीतिक-विचारधारात्मक हैं: यानी कौम और भाषा पर सुखविन्दर की शॉविनिस्ट व अस्मितावादी लाइन। जब इस पर हम उनकी पूरी आलोचना रखते हैं, तो वह जवाब देने से यह कहते हुए भाग जाते हैं कि ये सवाल तो प्रमुख हैं ही नहीं, बल्कि व्यक्तियों की जीवनशैली-कार्यशैली के सवाल प्रमुख हैं! लेकिन ये सवाल तो अपने आप में अलग होने का कारण बन ही नहीं सकते, जैसा कि आपने ही दो वर्ष पहले कहा था और ठीक ही कहा था! **अब यह पैंतरापलट क्यों? अब जबकि आपकी कौम और भाषा के सवाल पर आलोचना की जा रही है, तभी आपको ये व्यक्तिगत सवाल कैसे याद आने लगे? इसलिए क्योंकि आप लाजवाब हैं और आपको बहस से पलायन करना है। सभी इस बात को जानते हैं और समझते हैं।**

मज़ेदार बात देखिये, सुखविन्दर कहते हैं:

> *"विज्ञान सटीकता की मांग करता है। हम ऐसे ही कुछ भी नहीं बोल सकते हैं। मुँह उठाकर ऐसे ही कुछ लिख देना, सुबह उठा ब्रश किया नहीं और किसी व्यक्ति ने लेख लिख दिया ... सटीकता विज्ञान में बहुत ज़रूरी होती है।"*

लेकिन आप पाते हैं कि वह स्वयं विज्ञान के जिस भी विषय पर बोल रहे हैं, उनमें से ज्यादातर का उन्होंने कोई गम्भीर अध्ययन नहीं किया है। न तो मार्क्सवादी दर्शन का, न राजनीतिक अर्थशास्त्र का और न ही वर्ग संघर्ष व समाजवाद के सिद्धान्तों का। **यह बौद्धिक और वैचारिक कमज़ोरी ही थी, जिसके बारे में हमने तब भी स्पष्ट शब्दों में इंगित किया था जब हमारी राहें एक थीं, जो कि बाद में उनके भीतर राष्ट्रवादी और भाषाई अस्मितावादी और कट्टरपंथी भटकाव की ओर ले गया।** हमें इन समस्याओं के कारण व्यक्तियों में, उनके अहंकार, उनके निकृष्ट कोटि के कुत्साप्रचार करने में नहीं तलाशनी चाहिए, बल्कि इन समस्याओं का कारण सम्बन्धित व्यक्ति की राजनीति और विचारधारा में करनी चाहिए। जब आपकी विचारधारा और राजनीति ही इतनी दरिद्र है, तो विचलन तो पैदा होने ही थे।

अब हम देखते हैं कि इन बौद्धिक, राजनीतिक-विचारधारात्मक कमज़ोरियों के कारण सुखविन्दर क्या ग़लतियां जगरूप के ऊपर दिये गये अपने व्याख्यान में करते हैं। **हमने सुना है कि हमारे द्वारा इन भयंकर मूर्खताओं की आलोचना पर वह कहते हैं कि उनसे मात्र कुछ तकनीकी ग़लतियां हुई हैं, कोई राजनीतिक-विचारधारात्मक ग़लतियां नहीं हुईं हैं। इसलिए हम सबसे पहले आपको दिखलाएंगे कि सुखविन्दर ने इस व्याख्यान में गम्भीर और साथ ही मूर्खतापूर्ण ग़लतियां की हैं: मार्क्सवादी दर्शन के क्षेत्र में भी और मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भी।**

II) सुखविन्दर द्वारा की गयीं गम्भीर व मूर्खतापूर्ण विचारधारात्मक व राजनीतिक ग़लतियां

अब हम उसी क्रम से सुखविन्दर की विचारधारात्मक-राजनीतिक ग़लतियों को दिखलाएंगे, जिस क्रम से उन्हें दिखलाना पद्धतिगत तौर पर सही है: *यानी पहले दर्शन के विषय में की गयी ग़लतियां और फिर बाद में हम राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में की गयी ग़लतियों पर आएंगे।* सबसे पहले हम दर्शन, विचारधारा, दृष्टिकोण व विश्व-दृष्टि (worldview) के बारे में सुखविन्दर की समझदारी (या कहें कि समझदारी के पूर्ण अभाव) पर आते हैं।

1. दर्शन, विचारधारा, विश्व-दृष्टिकोण के विषय में सुखविन्दर के विचार: आश्चर्यजनक अज्ञानता की मिसाल

किसी भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी के लिए इन शब्दों, यानी दर्शन, विचारधारा, विज्ञान, आदि, के अर्थ की समझदारी मार्क्सवादी विज्ञान की बुनियादी समझदारी के समान है। मार्क्स का दार्शनिक चिन्तन वास्तव में विचारधारा की एक आलोचना (criticism of ideology) कही जा सकती है। इसलिए सबसे पहले हम इन शब्दों के अर्थ और उनके बीच के रिश्ते के बारे में सुखविन्दर की समझदारी पर बात करेंगे।

क. दृष्टिकोण और विश्व-दृष्टिकोण के अन्तर को समझ पाने में सुखविन्दर की अक्षमता

सबसे पहले देख लेते हैं कि अपने व्याख्यान में सुखविन्दर ने क्या कहा है।

सुखविन्दर कहते हैं:

> *"मार्क्सवाद में दर्शन और दृष्टिकोण का उपयोग किस अर्थ में होता है। कभी दर्शन शब्द का उपयोग होता है तो कभी दृष्टिकोण का। मान लीजिये इसका नाम लखविंदर है, इसे चाहे मैं लक्खा कहूँ, चाहे लखविंदर, रहेगा तो यही न। ऐसे ही एक ही चीज़ के दो नाम हैं। उसे हम दृष्टिकोण भी कह देते हैं और दर्शन भी कह देते हैं। मार्क्स का तो नहीं पता लेकिन एंगेल्स और लेनिन ने इन दोनों का समानार्थी शब्दों के रूप में उपयोग किया है। यह भी बेवजह का विवाद है। पर क्योंकि विवाद उठ जाता है तो बताना पड़ता है। कि दर्शन ही दृष्टिकोण होता है। एंगेल्स ने अपनी पुस्तक "समाजवाद – काल्पनिक तथा वैज्ञानिक" के पेज नंबर 47 पर लिखा है ,"नए जर्मन दर्शन" ,*

शब्दों को ध्यान से सुनिएगा ,"नए जर्मन दर्शन का शिखर हेगेल की प्रणाली थी", दर्शन की प्रणाली हेगेल की प्रणाली थी, आउटलुक की नहीं। मतलब आउटलुक के लिए शब्द दर्शन इस्तेमाल किया है। "…for the first time the whole world, natural, historical, intellectual, is represented as a process — i.e., as in constant motion, change, transformation, development; and the attempt is made to trace out the internal connection that makes a continuous whole of all this movement and development. From this point of view, the history of mankind no longer appeared as a wild whirl of senseless deeds of violence…" (Chapter II – Dialectics, Socialism: Utopian and Scientific) (ये उद्धरण सुखविंदर ने पंजाबी में बोला है।) देखो, अब एक जगह तो उन्होंने दर्शन शब्द का उपयोग किया है और आगे दृष्टिकोण। दर्शन के लिए ही दृष्टिकोण शब्द का उपयोग किया है। कहने का मतलब है कि मार्क्सवाद इन दोनों के भीतर कोई अंतर नहीं समझता है, दर्शन को ही दृष्टिकोण मानता है। दर्शन क्या है? दुनिया को देखने का एक ढंग है। जैसे अलग-अलग लोग ... जैसे क्या है ... दर्शन में बुनियादी सवाल क्या है, आगे लेनिन ने भी लिखा है, पढ़कर सुनाने की बजाय मैं वैसे बता देता हूँ। चलो पेज नंबर बता देता हूँ, उसकी पुष्टि करने के लिए आप ... लेनिन का एक लेख है, उसमें से पढ़कर सुनाता हूँ, लेनिन कहते हैं कि "मार्क्स का दार्शनिक आधार, जैसे कि मार्क्स-एंगेल्स ने बार-बार ऐलान किया, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।" जगरूप का कहना है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दृष्टिकोण है। लेनिन कहते हैं दर्शन है। अब लेनिन कहीं दर्शन को दृष्टिकोण लिख देते हैं, जैसे हम लक्खे को लखविंदर बोल दें या लक्खा बोल दें।"

यह कतई सटीक विवरण नहीं है और कई जगहों पर बिल्कुल ग़लत है और दिखलाता है कि सुखविन्दर को इन शब्दों का सही अर्थ पता नहीं है। **पहली बात, दर्शन का समानार्थी विश्व-दृष्टिकोण (worldview या world outlook) है, न कि दृष्टिकोण (point of view)।** एंगेल्स के जिस उद्धरण को यहां पेश किया गया है, वहां एंगेल्स यह नहीं कह रहे हैं कि दर्शन और 'दृष्टिकोण' एक ही चीज़ है। यहां दृष्टिकोण शब्द का प्रयोग एक 'जेनेरिक' अर्थ में किया गया है। यह किसी विशिष्ट वस्तु या परिघटना के बारे में नज़रिया भी हो सकता है, या आम तौर हर चीज़ को देखने का नज़रिया भी हो सकता है, यानी विश्व-दृष्टिकोण। जैसा कि मॉरिस कॉर्नफोर्थ ने बिल्कुल सही कहा है:

> *"A philosophy is a **world outlook**, an attempt **to understand the world**, mankind and man's place in the world."* (Maurice Cornforth, *Dialectical Materialism: An Introduction*)

मैंने जगरूप का मूल लेखन तो पढ़ा नहीं है, लेकिन अगर वह भी दृष्टिकोण और विश्व दृष्टिकोण में फर्क नहीं करता, तो वह बेशक ग़लत है।

दूसरी बात, यदि वह दर्शन को विश्व दृष्टिकोण कह रहा है, तो वह सही कह रहा है। **दर्शन विश्व दृष्टिकोण ही होता है। यह *विचारधारात्मक* हो सकता है, या *वैज्ञानिक* हो सकता है।** इस पर हम थोड़ा आगे आएंगे, क्योंकि सुखविन्दर को विचारधारा व विज्ञान के बीच का बुनियादी अन्तर नहीं पता है। **तो मामला "लखविन्दर ही लक्खा है" जितना मामूली नहीं है, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है!**

आगे बढ़ते हैं।

आगे सुखविन्दर कहते हैं:

> *"एक ही चीज़ के दो नाम हैं। यह आप लेनिन के लेख "मज़दूरों की पार्टी का धर्म के प्रति आचरण" में पढ़ सकते हैं। बाकी लेनिन ने इस पुस्तक के पेज नंबर 12 पर लिखा है यही चीज़ कि दर्शन और दृष्टिकोण को अलग-अलग करके नहीं देखा है। दर्शन दृष्टिकोण है, दृष्टिकोण दर्शन है। इनमें कोई अंतर नहीं है।"*

लेकिन जब आप लेनिन की पुस्तक को देखते हैं, तो आप पाते हैं कि लेनिन ने दर्शन और दृष्टिकोण (point of view) को एक ही चीज़ नहीं बताया है, बल्कि दर्शन और विश्व-दृष्टिकोण (world outlook) को समानार्थी के तौर पर इस्तेमाल किया है। वास्तव में, लेनिन ने इस पूरे लेख में कहीं भी दृष्टिकोण (point of view या viewpoint) शब्द का प्रयोग ही नहीं किया है। एक स्थान पर outlook शब्द का प्रयोग किया गया है, जहां लेनिन विशिष्ट तौर पर धर्म पर मार्क्सवादी नज़रिये की बात कर रहे हैं। स्पष्ट है कि या तो सुखविन्दर की समझ में ही नहीं आया है कि लेनिन क्या कह रहे हैं या फिर वह ग़लत उद्धृत कर रहे हैं। दोनों की बराबर सम्भावना है! क्योंकि ये दोनों ही कार्य वह पर्याप्त धड़ल्ले और बारंबारता के साथ करते हैं।

एक स्थान पर जगरूप ने दर्शन को 'संसार दृष्टिकोण' कहा है। इस पर सुखविन्दर कह उठते हैं कि 'देखो, जगरूप ने भी दर्शन को दृष्टिकोण कहा है'! यहां सुखविन्दर हमारे इस शक़ को यक़ीन में बदल देते हैं कि उन्हें 'दृष्टिकोण' व 'विश्व-दृष्टिकोण' के बीच अन्तर नहीं पता है। और जगरूप ने यदि ऐसा कहा है, तो, और उसके चिन्तन में बिल्कुल संशोधनवाद की भरमार हो सकती है, लेकिन कम-से-कम इस बिन्दु पर जगरूप सही बोल रहा है और सुखविन्दर मूर्खतापूर्ण बात कर रहे हैं। दृष्टिकोण और विश्व-दृष्टिकोण एक ही चीज़ नहीं होते हैं।

ख. दर्शन और विचारधारा के सम्बन्ध के विषय में सुखविन्दर का निपट अज्ञान

अब सुखविन्दर दर्शन और विचारधारा के सम्बन्ध पर आते हैं और वहां भी अपने अज्ञान का भरपूर प्रदर्शन करते हैं। सबसे पहले उन्हीं से सुनते हैं कि वह क्या कहते हैं:

> *"आगे चलते हैं, आइडियोलॉजी पर। विचारधारा क्या होती है? दर्शन विचारधारा का अंग होती है। दर्शन विचारधारा नहीं है, उसका अंग है। उदाहरण के लिए, हाथ शरीर नहीं है, परंतु हाथ शरीर का अंग है। विचारधारा सामुच्चय है, विचारधारा बहुत सी चीज़ों को अपने भीतर समेटती है। उसकी मैं आपको परिभाषा पढ़कर दिखाऊंगा। उसका(जगरूप का) कहना है कि दर्शन उससे अलग चीज़ है। जगरूप का यह दावा है। पर वह उसका अंग है। जब हम विचारधारा कहते हैं, तो दर्शन उसी में आ जाता है। उदाहरण के लिए हम शरीर कह दें, तो नाक, आँख, सब आ जाता है न उसमें। ऐसे ही जब हम विचारधारा कहते हैं तो दर्शन उसमें शामिल होता है। 'जर्मन विचारधारा' में मार्क्स-एंगेल्स ने इसकी परिभाषा दी है। मार्क्स ने पहली बार उस पुस्तक में विचारधारा के सवाल को डील किया है। विचारधारा में क्या-क्या है? मार्क्स ने तीन चीज़ें लिखी हैं "नैतिकता, धर्म और अध्यात्मवाद"। दर्शन को इन अर्थों में लिखा है। "नैतिकता ,धर्म और अध्यात्मवाद और बाकी सारी विचारधारा" देखिये ये विचारधारा है ,"और बाकी सारी विचारधारा", यानी ये तो इसका अंग हैं ही, इसके बिना, विचारधारा के और जो अंग हैं। यानी मार्क्स इन तीनों चीज़ों को विचारधारा का अंग मानता है। आगे, एंगेल्स ने लिखा है, 'लुडविग फायरबाख' पुस्तक में। 'लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत', पेज 52, 'और ऊंचे स्तर की विचारधाराएँ जो भौतिकवादी आधार से और भी दूर होती हैं दर्शन और धर्म का रूप धारण कर लेती हैं।' दर्शन विचारधारा है, यह लुडविग फायरबाख नाम की पुस्तक में फ्रेडरिक एंगेल्स ने लिखा है। आगे, मार्क्स ने क्या लिखा है? मार्क्स की एक पुस्तक है 'Preface to the A Contribution to the Critique of Political Economy', यह बहुत ज़रूरी पुस्तक है। इसमें पहली बार मार्क्स ने अपनी खोज का वर्णन किया था। "...it is always necessary to distinguish between the material transformation of the economic conditions of production, which can be determined with the precision of natural science, and the legal, political, religious, artistic or philosophic -- in short, ideological forms..." (सुखविंदर ने यह उद्धरण पंजाबी में बोला है)। विचारधारात्मक रूप क्या हैं मार्क्स के लिए ... विचारधारा में क्या-क्या आ जाता है, मार्क्स के अनुसार – कानून, राजनीति, धर्म, सौंदर्यशास्त्र (aesthetics) (और दर्शन) यह विचारधारा है। ग्राम्शी दुनिया का बहुत बड़ा दार्शनिक था, मार्क्सवादी-लेनिनवादी। यदि जीवित*

रहता तो मार्क्सवाद में कुछ योगदान करके जाता। यदि उसे बाहर रहने का अवसर मिलता। उसके 20वर्ष जेल में बीत गये। उसकी याददाश्त बहुत अच्छी थी, जो पहले पढ़ा था, याददाश्त के दम पर लिखता था। उसकी बहुत सी पुस्तकें छपी हैं। वह भी मार्क्स की इस परिभाषा को अपना मार्गदर्शक मानता था। उसने विचारधारा के बारे में लिखा है, कि विचारधारा के कुछ निचले स्तर होते हैं और ऊंचे स्तर होते हैं। जो डिक्शनरी ऑफ़ फिलोसॉफ़ी है न, इसमें इन्होंने उसी क्रम में परिभाषा दी है। "राजनीतिक, कानूनी, नैतिक, सौंदर्यशास्त्रीय, धार्मिक और दार्शनिक विचारों की प्रणाली"। विचारधारा क्या है, विचारधारा की परिभाषा क्या है? राजनीतिक, कानूनी, नैतिक, सौंदर्यशास्त्रीय, धार्मिक और दार्शनिक विचारों की प्रणाली को विचारधारा कहते हैं। अब यह क्रम है। राजनीतिक विचारधारा का सबसे शुरुआती रूप, कानूनी उससे ऊपर, नैतिक उससे ऊपर, सौंदर्यशास्त्रीय उससे ऊपर, धार्मिक उससे ऊपर और दार्शनिक उससे ऊपर। ये यानी आइडियोलॉजी की लेयर्ज़ हैं। जगरूप इन्हें अलग-अलग कर देता है। हम कहते हैं, दृष्टिकोण ही दर्शन है, आप दर्शन कह लें या दृष्टिकोण कह लें, कोई अंतर नहीं है। और दर्शन विचारधारा का अंग है। जैसे हमारे बहुत सारे अंगों से मिलकर शरीर बनता है, वैसे ही बहुत से अंगों से मिलकर विचारधारा बन जाती है।''

हमने यह लम्बा उद्धरण इसलिए दिया ताकि पाठक देख सकें कि दिमागी गड्डमड्डपन किस स्तर का हो सकता है। सुखविन्दर को 'दर्शन' और 'विचारधारा' शब्दों का अर्थ ही नहीं पता है।

दर्शन का अर्थ है विश्व-दृष्टिकोण और पद्धति। मार्क्सवाद का विश्व-दृष्टिकोण भौतिकवादी है और पद्धति द्वन्द्ववादी है। मार्क्सवादी दर्शन को इसीलिए हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं। यह सर्वहारा वर्ग का दर्शन है। सर्वहारा वर्ग ही इस *वैज्ञानिक* दर्शन तक पहुंच सकता था क्योंकि उसमें एक सार्वभौमता का तत्व है। उसमें सार्वभौमता का तत्व इसलिए है क्योंकि उसके पास अपनी श्रमशक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और मार्क्स के शब्दों में "वह उत्पादन के साधन के मालिकाने के बोझ से मुक्त है।" इसलिए वही एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का अभिकर्ता (agent) हो सकता है, जिस प्रक्रिया में वह सारे वर्ग विभाजनों को समाप्त करता है और स्वयं अपने आपको भी एक वर्ग के रूप में समाप्त करता है। यही वह वर्ग है जिसके अगुवा तत्वों की एक वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि तक पहुंच हो सकती है, जो कि शासक वर्ग की *विचारधाराओं* से स्वतन्त्र हो। **यही कारण है कि सर्वहारा विश्व-दृष्टिकोण के रूप में मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक दर्शन है, न कि विचारधारात्मक दर्शन। कोई दर्शन विचारधारात्मक (ideological) हो भी सकता है और नहीं भी। अब इस प्रश्न पर आते हैं कि विचारधारा का अर्थ क्या है।**

मार्क्स और एंगेल्स ने विचारधारा शब्द का प्रयोग एक वर्ग समाज में छद्म चेतना के कारण पैदा होने वाले नज़रिये के रूप में किया है। **लेनिन ने इसका इस अर्थ में भी प्रयोग किया है लेकिन उन्होंने सर्वहारा विचारधारा की भी बात की है, जिस पर हम आगे आएंगे।** पहले देख लेते हैं कि मार्क्स व एंगेल्स के लिए 'विचारधारा' का क्या अर्थ था।

मार्क्स व एंगेल्स के लिए विचारधारा वह प्रिज्म है, जो कि वर्ग समाज में छद्म चेतना के कारण निर्मित होता है, जिससे कि हम दुनिया को देखते हैं। मार्क्स लिखते हैं:

> *"**यदि समस्त विचारधारा में मनुष्य और उनकी परिस्थितियां उल्टी नज़र आती हैं, जैसे कि कैमरा ऑब्स्क्यूरा में दिखती हैं,** तो यह परिघटना उतनी ही उनकी ऐतिहासिक जीवन-प्रक्रिया से पैदा होती है, ठीक वैसे ही जैसे कि उनकी शारीरिक जीवन-प्रक्रिया से उनके रेटिना पर वस्तुओं के उल्टा नज़र आने की परिघटना पैदा होती है।"* (मार्क्स-एंगेल्स, जर्मन विचारधारा)

> "**If in all ideology men and their circumstances appear upside-down as in a *camera obscura*,** this phenomenon arises just as much from their historical life-process as the inversion of objects on the retina does from their physical life-process." (Marx-Engels, German Ideology)

एंगेल्स 1893 में फ्रांज मेहरिंग को लिखे गये एक प्रसिद्ध पत्र में कहते हैं:

> *"विचारधारा तथाकथित विचारक द्वारा सचेतन तौर पर पूरी की गयी एक प्रक्रिया है, यह बिल्कुल सच है, **लेकिन एक छद्म चेतना के साथ।** जो वास्तविक प्रेरक शक्तियां उसे प्रेरित कर रही होती हैं, वे उससे अज्ञात ही बनी रहती हैं; **अगर ऐसा न होता तो इसे एक विचारधारात्मक प्रक्रिया कहा ही नहीं जा सकता है। इस प्रकार वह नकली या प्रतीतिगत प्रेरक शक्तियों की कल्पना करता है।"*** (एंगेल्स, *फ्रांज मेहरिंग को लिखे गये एक पत्र से*, 14 जुलाई, 1893)

> "Ideology is a process accomplished by the so-called thinker consciously, it is true, **but with a false consciousness.** The real motive forces impelling him remain unknown to him; **otherwise it simply would not be an ideological process. Hence he imagines false or seeming motive forces'."** (Engels, *in a letter to Franz Mehring*, 14 July, 1893)

इसी प्रकार कोई दर्शन विचारधारात्मक हो सकता है या नहीं भी हो सकता है। मार्क्स व एंगेल्स ने जर्मन दर्शन परम्परा की जो आलोचना पेश की वह दरअसल उसके विचारधारात्मक चरित्र की आलोचना थी, वह विचारधारा की आलोचना (criticism of ideology) है। एंगेल्स 'ड्यूहरिंग मतखण्डन' में भाववादी दर्शन के विचारधारात्मक चरित्र की आलोचना लिखते हुए कहते हैं:

> *"इस प्रकार यहां भी यथार्थ का दर्शन **शुद्ध विचारधारा सिद्ध होता है, यानी यथार्थ से यथार्थ का निगमन नहीं बल्कि, एक अवधारणा से यथार्थ का निगमन।**"* (एंगेल्स, *ड्यूहरिंग मतखण्डन*)

> "the philosophy of reality, therefore, **proves here again to be pure ideology, the deduction of reality not from itself, but from a concept"** (Engels, *Anti-Duhring*)

यहां एंगेल्स और कुछ नहीं बल्कि भाववादी दर्शन के विचारधारात्मक चरित्र की ओर इशारा कर रहे हैं। इसलिए सुखविन्दर का यह सोचना, कि दर्शन आम तौर पर हर सूरत में विचारधारा का अंग होता है, जिसके अन्य अंग होते हैं धर्म, अध्यात्मवाद, नैतिकता, इत्यादि, उनकी इन अवधारणाओं के प्रति अनभिज्ञता को प्रदर्शित करता है। कारण यह है कि वह अनुक्रमणिका देखकर उद्धरण ढूंढते हैं, पूरी पुस्तक को नहीं पढ़ते हैं। यही कारण है कि उनकी अवधारणाएं स्पष्ट नहीं हैं, बल्कि अस्त-व्यस्त और गड्डमड्ड है। मिसाल के तौर पर, दर्शन व नैतिकता एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर भी आधारित हो सकते हैं, बजाय विचारधारात्मक होने के। धर्म और अध्यात्मवाद निश्चित ही वैज्ञानिक नहीं हो सकते हैं। **लेकिन हर दर्शन विचारधारात्मक नहीं होता, या वह विचारधारा के कुल समुच्चय** (ensemble) **का अंग नहीं होता है। वह वैज्ञानिक भी हो सकता है, जैसे कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद।**

और देखें एंगेल्स क्या कहते हैं:

> "And when such an *ideologist* constructs morality and law from the concept, or the so-called simplest elements of "society", instead of from the real social relations of the people round him, what material is then available for this construction? Material clearly of two kinds: first, the meagre residue of real content which may possibly survive in the abstractions from which he starts and, secondly, the content which our *ideologist* once more introduces *from his own consciousness.* And what does he find in his consciousness? For the most part, moral and juridical notions which are a more or less

> accurate expression (positive or negative, corroborative or antagonistic) of the social and political relations amidst which he lives; perhaps also ideas drawn from the literature on the subject; and, as a final possibility, some personal idiosyncrasies. Our ideologist may turn and twist as he likes, but the historical reality which he cast out at the door comes in again at the window, and while he thinks he is framing a doctrine of morals and law for all times and for all worlds, he is in fact only fashioning an image of the conservative or revolutionary tendencies of his day – ***an image which is distorted because it has been torn from its real basis and, like a reflection in a concave mirror, is standing on its head."*** (Engels, *Anti-Duhring, emphasis ours*)

इसी प्रकार कॉनरैड श्मिट को लिखे पत्र में भी एंगेल्स विचारधारा के अर्थ को विस्तार से स्पष्ट करते हैं, लेकिन हम यहां केवल एक उद्धरण दे रहे हैं, बाकी पाठक इस पूरे पत्र को अवश्य पढ़ें।

> "The reflection of economic relations as legal principles is necessarily also a topsyturvy one: it happens without the person who is acting being conscious of it; the jurist imagines he is operating with *a priori* principles, whereas they are really only economic reflexes; ***so everything is upside down. And it seems to me obvious that this inversion, which, so long as it remains unrecognised, forms what we call ideological conception, reacts in its turn upon the economic basis and may, within certain limits, modify it."*** (Engels's letter to Conrad Schmidt, 27 October, 1890 ,*emphasis ours*)

जैसा कि आप देख सकते हैं कि मार्क्स व एंगेल्स के लिए 'विचारधारा' की अवधारणा के अर्थ बेहद स्पष्ट थे। लेकिन सुखविन्दर से इसकी जानकारी की उम्मीद करना भी बेकार है क्योंकि उन्हें तो लगता है कि मार्क्स ने विचारधारा पर पर्याप्त काम नहीं किया और उसके लिए टेरी ईगलटन की पुस्तकें पढ़नी चाहिए और सार-संग्रहवादी 'डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट' की एण्ट्रीज़ पढ़नी चाहिए, जिसका सम्पादन समाजशास्त्री टॉम बॉटोमोर ने किया है! बाद में हम देखेंगे कि इन दोनों का भी सुखविन्दर ने अध्ययन नहीं किया है, बल्कि बस असावधान श्रोताओं के कान पर इन नामों को बस बम की तरह गिरा दिया है।

बहरहाल, दर्शन अनिवार्यत: विचारधारात्मक समुच्चय का अंग नहीं होता है। वह विचारधारात्मक भी हो सकता है और वैज्ञानिक भी। मार्क्सवादी दर्शन यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक विचारधारात्मक दर्शन नहीं है, बल्कि एक वैज्ञानिक दर्शन है। जहां मार्क्स व एंगेल्स ने विचारधारा के अंग के तौर पर दर्शन, धर्म, नैतिकता, अध्यात्मवाद व अन्य विचारधाराओं की बात की है, वहां वे बुर्जुआ समाज में मौजूद शासक वर्गों के दर्शनों, धर्म, नैतिकता व अन्य विचारधारात्मक रूपों की बात कर रहे हैं न कि वह आम तौर पर दर्शन की बात कर रहे हैं। लेकिन सुखविन्दर इस शब्द 'विचारधारा' के मार्क्स व एंगेल्स द्वारा प्रस्तुत अर्थों व समझदारी से पूरी तरह नावाकिफ़ हैं, लेकिन वह चल पड़े हैं जगरूप के संशोधनवाद की आलोचना करने! माओ के शब्दों में सुखविन्दर ने "अभी अपनी थाह नहीं ली है।"

अब लेनिन द्वारा इस शब्द के प्रयोग को व्यापक किये जाने पर आते हैं। लेनिन 'सर्वहारा विचारधारा' की बात करते हैं। लेनिन किन अर्थों में इस शब्द का प्रयोग करते हैं? लेनिन मानते हैं कि अब तक की सभी वर्गीय विचारधाराओं के पास आंशिक सत्य ही था, क्योंकि वे शासक वर्गों के वर्गीय पूर्वाग्रहों से ग्रस्त थीं, उनके कारण पैदा होने वाली छद्म चेतना से निर्मित थीं। उनकी वर्ग प्रकृति उन्हें यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता में देखने और समझने में अक्षम बनाती थी। लेकिन मार्क्सवादी 'विचारधारा' लेनिन के शब्दों में एक वैज्ञानिक विचारधारा है हालांकि मार्क्सवाद से पहले मौजूद शासक वर्गों की विचारधाराओं में आंशिक रूप में कुछ वैज्ञानिक तत्व थे। लेनिन लिखते हैं:

> *"मार्क्सवाद ने क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के रूप में अपना ऐतिहासिक महत्व अर्जित किया है क्योंकि बुर्जुआ युग की सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्धियों को नकारने की बजाय, इसने, मानवीय विचारों व संस्कृति के विकास के दो हज़ार वर्षों से भी अधिक पुराने इतिहास में हर मूल्यवान चीज़ को अपने में सम्मिलित किया है और उसका पुन:संस्कार किया है।"* (लेनिन, *सर्वहारा संस्कृति के बारे में*, 8 अक्टूबर, 1920)
>
> "Marxism has won its historic significance as the ideology of the revolutionary proletariat because, far from rejecting the most valuable achievements of the bourgeois epoch, it has, on the contrary, assimilated and refashioned everything of value in the more than two thousand years of the development of human thought and culture." (Lenin, *'On Proletarian Culture'* October 8,1920)

लेनिन विचारधारा शब्द का प्रयोग बुर्जुआ विचारधारा (जो कि अपनी सम्पूर्णता में अपने शासक वर्ग के वर्गीय पूर्वाग्रहों व पक्षधरता के कारण विचारधारात्मक है) और समाजवादी विचारधारा (जो कि सर्वहारा

वर्ग का दर्शन होने के कारण वैज्ञानिक चरित्र रखती है, और इस रूप में क्लासिकीय अर्थों में विचारधारा है ही नहीं, बल्कि एक विज्ञान है) के एण्टीथीसिस के रूप में करते हैं। उनके लिए विचारधारा का प्रश्न सर्वहारा दर्शन और उसके प्रति प्रतिबद्धता के प्रश्न से जुड़ा है। *इन अर्थों में समाजवादी विचारधारा वैज्ञानिक है न कि विचारधारात्मक।* इसके बारे में विस्तार से जानने के लिए दिलचस्पी रखने वाले पाठक 'दि ग्रेट सोवियत एनसाइक्लोपीडिया' के संशोधनवादी दौर के पहले के संस्करण में 'विचारधारा' की एण्ट्री को पढ़ सकते हैं। यह संक्षेप में बहुत ही अच्छी व्याख्या पेश करती है और यह भी दिखलाती है कि मार्क्स व एंगेल्स के लिए विचारधारा शब्द का क्या अर्थ था और लेनिन ने इसे किस रूप में विस्तारित किया।

लुब्बेलुबाब यह कि हर दर्शन विचारधारा के समुच्चय का अंग नहीं होता, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है, बल्कि वह वैज्ञानिक भी हो सकता है। जो दर्शन वैज्ञानिक नहीं है, शासक वर्गों के वर्गीय पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है, वह विचारधारात्मक होता है। असल बात यह है कि सुखविन्दर को इन शब्दों 'दर्शन', 'विचारधारा', 'विश्व-दृष्टिकोण' आदि का अर्थ ही नहीं पता है। बस इधर-उधर से अनुक्रमणिका देखकर कुछ कोटेशन उन्होंने पढ़ लिए हैं लेकिन उनका अर्थ और सन्दर्भ दोनों ही उन्हें नहीं पता है। इसीलिए हम बार-बार कहते हैं कि पूरी पुस्तक पढ़नी चाहिए और दावे से कह सकते हैं कि सुखविन्दर ने 'जर्मन आइडियॉलजी' पूरी नहीं पढ़ी है, बस इण्डेक्स देखकर कोटेशन पढ़ लिए हैं और उन्हें भी समझा नहीं है। यही काम उन्होंने टेरी ईगलटन की पुस्तक के साथ भी किया है। यह साफ दिखलाई पड़ जाता है अगर आप उनका यह व्याख्यान सुनते हैं।

2. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बुनियादी नियमों के विषय में सुखविन्दर की "समझदारी"

आइये अब देखते हैं कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में सुखविन्दर की क्या समझदारी है। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की बुनियादी समझदारी के बिना कोई व्यक्ति किसी जनसंगठन में क्रान्तिकारी कार्यकर्ता की भूमिका तो अवश्य निभा सकता है, लेकिन एक क्रान्तिकारी संगठन में नेतृत्व की जिम्मेदारी वह कैसे उठा सकता है? सुखविन्दर ने खुद ही अपने व्याख्यान में कहा है कि एक क्रान्तिकारी संगठन के नेतृत्व की दर्शन की समझदारी सही होनी चाहिए। जब नेतृत्व को ही मार्क्सवादी दर्शन, यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण की कोई समझ न हो, तो वह किसी सर्वहारा संगठन को नेतृत्व कैसे दे सकता है? वह तो पूरे संगठन को ही विचारधारात्मक व राजनीतिक विचलनों के गड्ढे में ले जाएगा, जो कि 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के साथ हुआ भी। देखते हैं कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बारे में सुखविन्दर की समझदारी क्या है।

क. विपरीत तत्वों की एकता के बारे सुखविन्दर की समझदारी: द्वन्द्ववाद का अधिभूतवादी अपहरण

सबसे पहले तो द्वन्द्ववाद के तीनों नियमों, उनके सापेक्षिक महत्व या उनके बीच रिश्ते तथा उसमें विपरीत तत्वों की एकता के सिद्धान्त के बारे में सुखविन्दर की समझदारी को देखते हैं। सुखविन्दर कहते हैं:

> *"अब जो द्वन्द्ववाद के तीनों नियम हैं न, इनमें से बुनियादी क्या है? यदि हम यह अंतर नहीं करते, तो हम द्वन्द्ववाद को नहीं समझते हैं। सबसे बुनियादी है विपरीत तत्वों की एकता। जगरूप ने इन तीनों को अलग-अलग कर दिया। विपरीत तत्वों की एकता अलग हो गया, नंबर 2 पर आ गया, मात्रात्मक परिवर्तनों का गुणात्मक में बदलना, नंबर 3 पर आ गया, निषेध का निषेध। अब विपरीत तत्वों की एकता और संघर्ष हम सभी जानते हैं, हमें समझ है। कि हर चीज़ ... प्रकृति की हर चीज़ ... हम भी प्रकृति का अंग हैं, समाज प्रकृति का अंग है ...हर चीज़ के विपरीत पहलू होते हैं। यदि हम जीवित हैं तो हमारे शरीर के सेल टूट भी रहे हैं, बन भी रहे हैं। विपरीत तत्वों की एकता है, बन भी रहा है टूट भी रहा है। हम चलते हैं तो धरती हमारे चलने का विरोध करती है ... गुरूत्व बल, नहीं तो हम चल नहीं सकेंगे। रोकेट इसी सिद्धान्त पर उड़ता है, कश्ती इसी सिद्धान्त पर तैरती है। सारा जीवन इसी पर टिका हुआ है। हर चीज़ में विपरीत तत्वों की एकता होती है। कई बार हम किसी व्यक्ति पर बहुत खीझ जाते हैं, तो थोड़ी देर बाद उसका दूसरा पक्ष भी याद आता है तो थोड़ा गुस्सा कम हो जाता है कि यार, व्यक्ति अच्छे काम भी करता है। जैसे गुरदास मान ने भी लिखा है, "माड़े बंदे विच्च भी कोई गुण चंगा हुन्दा है" (बुरे व्यक्ति में कोई अच्छा गुण भी होता है)। चलो कोई व्यक्ति ऐसी बात कर जाता है। बहुत सारे लोग कर जाते हैं। चलो, विषय से बाहर नहीं जाना है हमें। हर चीज़ में विपरीत तत्वों की एकता ...विपरीत तत्वों की एकता क्या है कि दोनों एक जगह हैं। एकता साम्यिक होती है और संघर्ष चिरस्थायी होता है।"*

यह बिल्कुल सम्भव है कि जगरूप ने विपरीत तत्वों की एकता को द्वन्द्ववाद का सबसे बुनियादी सिद्धान्त न माना हो और इस रूप में वह बिल्कुल ग़लत होगा। हमने उसकी मूल पुस्तक नहीं पढ़ी है इसलिए जगरूप पर हम कोई टिप्पणी नहीं कर सकते हैं। *लेकिन तीनों नियमों में से किसको किस नम्बर पर रखा है, यह अपने आप में कोई पैमाना नहीं है। वैसे तो एंगेल्स 'ड्यूहरिंग मतखण्डन' में द्वन्द्ववाद के नियमों की बात करते हुए अलग शीर्षकों के तहत केवल दो ही नियमों का जिक्र करते हैं: परिमाणात्मक विकास से गुणात्मक छलांग और निषेध का निषेध। लेकिन जिन्होंने भी एंगेल्स का 'ड्यूहरिंग मतखण्डन' पढ़ा है वह जानते हैं कि वह प्रकृति व समाज दोनों में ही अन्तरविरोध के नियम की परख करने वाली एक उत्कृष्ट रचना है जो यह दिखलाती है कि विपरीत तत्वों की एकता या अन्तरविरोध का नियम ही समस्त गति का संचालन व विनियमन करता है, हालांकि वह किसी अलग शीर्षक के तहत उसकी चर्चा नहीं करती हैं।*

*स्तालिन की पुस्तक 'द्वन्द्वात्मक व ऐतिहासिक भौतिकवाद' अन्तरविरोध के नियम से पहले परिमाणात्मक विकास से गुणात्मक छलांग के नियम पर बात करती है। क्या इसका अर्थ है कि स्तालिन अन्तरविरोध के नियम को कम अहमियत देते हैं? नहीं! इसलिए अपने आप में उस क्रम से ज्यादा-कुछ तय नहीं किया जा सकता जिसमें एंगेल्स व स्तालिन ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमों पर चर्चा की है। मूल बात पूरे विषय का **ट्रीटमेण्ट** है।*

अब उपरोक्त उद्धरण में सुखविन्दर ने विपरीत तत्वों की एकता के नियम की क्या समझदारी पेश की है, इस पर थोड़ी चर्चा कर लेते हैं।

सबसे पहली बात तो यह है कि विपरीत तत्वों की एकता (और संघर्ष) का अर्थ दो ध्रुवीय विपरीत तत्वों से है जो कि हर चीज़ को संघटित (constitute) करते हैं और उसके भीतर सतत् संघर्षरत रहते हैं। ऐसा नहीं होता है कि उनकी कभी-कभी एकता होती है और अधिकांश समय उनके बीच संघर्ष होता है। हर पल उनकी बीच एकता भी होती है क्योंकि यह उनकी पूरकता या कहें संघटनात्मक पूरकता (constitutive complimentarity) होती है जो कि उस वस्तु को बनाती है और हर पल उनके बीच संघर्ष भी होता है।

एक मिसाल से इसे समझें। पूंजीवादी समाज में पूंजीपति वर्ग बिना सर्वहारा वर्ग के अस्तित्व में नहीं रह सकता है क्योंकि पूंजी और कुछ नहीं बल्कि मृत भण्डारित श्रम है और इसलिए वह उजरती श्रम के अस्तित्व के बिना सम्भव ही नहीं है। **यानी पूंजी व उजरती श्रम, तथा, पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग वे दो विपरीत तत्व हैं जो कि पूंजीवादी समाज को संघटित करते हैं यानी** constitute **करते हैं। इनके बीच का अन्तरविरोध ही पूंजीवादी समाज को संघटित करता है। इनके बीच इस रूप में निरन्तर एकता भी है और सतत् संघर्ष भी है।** दार्शनिक अर्थों में एकता और संघर्ष का यही अर्थ होता है। इसका कोर है: संघटनात्मक अन्तरविरोध (constitutive contradiction) की अवधारणा, यानी वह अन्तरविरोध (विपरीत तत्वों का संघर्ष) जो कि हर चीज़ को बनाता है या संघटित करता है और चूंकि उस वस्तु का संघटन या रचना ही इन विपरीतों के संघर्ष पर निर्भर करता है इसलिए हम इसे विपरीत तत्वों की एकता भी कहते हैं।

जब यह कहा जाता है, जैसा कि लेनिन ने कहा था कि विपरीत तत्वों की एकता अस्थायी, संक्रमणात्मक व सापेक्ष होती है, जबकि विपरीत तत्वों का संघर्ष स्थायी और निरपेक्ष, तो इसका अर्थ यह है कि हर वस्तु या परिघटना शुरू होती है और खत्म भी हो जाती है। इस रूप में वह विशिष्ट एकता (particular unity) **जो किसी भी वस्तु को बनाती है, उस वस्तु के समाप्त होने के साथ खत्म हो जाती है, लेकिन एक नयी एकता में विपरीत तत्वों का संघर्ष जारी रहता है। यानी अलग-अलग वस्तुओं का अस्तित्व अस्थायी है और इस रूप में जिन विपरीतों की एकता उन्हें संघटित करती है, वह एकता भी अस्थायी है**

और उनके समाप्त होने के साथ वह विशिष्ट एकता भी समाप्त हो जाती है, लेकिन सिर्फ इसलिए क्योंकि वह नये विपरीतों की संघर्ष के रूप में एक नयी एकता यानी किसी नयी वस्तु या परिघटना के उदय की ओर ले जाती है। इस रूप में एकता अस्थायी है और संघर्ष स्थायी, इस रूप में नहीं कि विपरीत तत्वों के बीच कभी-कभी एकता हो जाती है, और ज्यादातर संघर्ष होता रहता है! देखें कि माओ ने इसे किस प्रकार समझाया है:

"Lenin said:

> "The unity (coincidence, identity, equal action) of opposites is conditional, temporary, transitory, relative. The struggle of mutually exclusive opposites is absolute, just as development and motion are absolute."

"What does this passage mean?

"All processes have a beginning and an end, all processes transform themselves into their opposites. The constancy of all processes is relative, but the mutability manifested in the transformation of one process into another is absolute.

"There are two states of motion in all things, that of relative rest and that of conspicuous change. Both are caused by the struggle between the two contradictory elements contained in a thing. When the thing is in the first state of motion, it is undergoing only quantitative and not qualitative change and consequently presents the outward appearance of being at rest. When the thing is in the second state of motion, the quantitative change of the first state has already reached a culminating point and gives rise to the dissolution of the thing as an entity and thereupon a qualitative change ensues, hence the appearance of a conspicuous change. Such unity, solidarity, combination, harmony, balance, stalemate, deadlock, rest, constancy, equilibrium, solidity, attraction, etc., as we see in daily life, are all the appearances of things in the state of quantitative change. On the other hand, the dissolution of unity, that is, the destruction of this

> solidarity, combination, harmony, balance, stalemate, deadlock, rest, constancy, equilibrium, solidity and attraction, and the change of each into its opposite are all the appearances of things in the state of qualitative change, the transformation of one process into another. Things are constantly transforming themselves from the first into the second state of motion; the struggle of opposites goes on in both states but the contradiction is resolved through the second state. That is why we say that the unity of opposites is conditional, temporary and relative, while the struggle of mutually exclusive opposites is absolute." (माओ, अन्तरविरोध के बारे में)

सुखविन्दर यहां यह भी नहीं कह सकते कि "मेरा भी तो यही मतलब है" क्योंकि विपरीत तत्वों की एकता व संघर्ष के सिद्धान्त के बारे में उनके भ्रम के बारे में हमारे किसी भी शक़ को वह खुद ही दूर कर देते हैं जब वह कहते हैं:

> *"विपरीत तत्व इकट्ठा होंगे तो संघर्ष तो करेंगे ही। आराम से तो बैठे नहीं रहेंगे।"*

कैसी मूर्खतापूर्ण बात है यह? विपरीत तत्व "इकट्ठा" नहीं होते हैं, वे ही किसी वस्तु को संघटित करते हैं, उनके अन्तरविरोध से ही वह वस्तु बनती है। अन्तरविरोध के नियम के बारे में ही सुखविन्दर की समझदारी अधिभूतवादी (metaphysical) है। उनके लिए जो सही शब्द इस्तेमाल किया जा सकता है वह है a childish metaphysian of dialectics! यानी ऐसा व्यक्ति जो "द्वन्द्ववाद-द्वन्द्ववाद" चिल्लाता रहता है, लेकिन स्वयं द्वन्द्व के विषय में ही उसकी समझदारी बचकानी अधिभूतवादी समझदारी है।

ख. निषेध का निषेध का नियम भी सुखविन्दर के हमलों से मुश्किल से ही बच पाता है!

लेकिन द्वन्द्ववाद के नियमों के बारे में अपना "ज्ञान-प्रसार" सुखविन्दर यहां बन्द नहीं करते! इसके बाद वह 'निषेध का निषेध' के नियम की भी अच्छे से ख़बर लेते हैं! वह कहते हैं:

> *"ऐसे ही निषेध का निषेध क्या होता है? मतलब, कोई भी चीज़ है, उसके अंदर एक चीज़ का निषेध होकर उसकी जगह नई चीज़ ले लेती है, उसका निषेध होता है, उसकी जगह नई चीज़ ले लेती है।"*

किसी चीज़ के अन्दर एक चीज़ का निषेध?! हर वस्तु के भीतर विपरीत तत्वों का संघर्ष होता है, जोकि उस वस्तु को बनाता भी है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। इस अन्तरविरोध के समाधान के तौर पर उस वस्तु का निषेध होता है, जो स्वयं अपने से पहले के चरण में मौजूद वस्तु का निषेध होती है। हर चरण का अपना विशिष्ट अन्तरविरोध होता है, जो कि उस चरण के निषेध और नये चरण के उदय की ओर जाता है। मिसाल के तौर पर, मार्क्स निषेध का निषेध का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि पूंजीवादी प्रतिस्पर्द्धा ने सामन्ती इजारेदार सम्पत्ति का निषेध किया और उसके स्थान पर बुर्जुआ निजी सम्पत्ति को रखा; लेकिन पूंजीवादी इजारेदारी ने बुर्जुआ निजी सम्पत्ति का निषेध किया। इनमें से हरेक निषेध के पीछे एक प्रधान अन्तरविरोध था, जिसके समाधान के फलस्वरूप ही निषेध होता है। सामन्ती समाज में यह अन्तरविरोध था सामन्ती वर्ग और जनता के बीच। सामन्ती वर्ग व राजतंत्र तथा उनके द्वारा समूची सामाजिक-आर्थिक सम्पदा का स्वामित्व उत्पादक की व्यक्तिगत सम्पत्ति का एण्टीथीसिस था; यह अन्तरविरोध हल होता है बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में किसानों, दस्तकारों, मज़दूरों व मध्यवर्ग द्वारा जनवादी क्रान्ति द्वारा जो कि सामन्ती सम्पत्ति की जगह बुर्जुआ निजी सम्पत्ति की स्थापना करती है। सामन्ती समाज का निषेध हो जाता है, उसका स्थान आरंभिक पूंजीवादी व्यवस्था ले लेती है, जोकि अभी तथाकथित "मुक्त व्यापार" के दौर में होती है। यह "मुक्त व्यापार" का दौर अपने अन्दर निहित अन्तरविरोधों के कारण, यानी पूंजी व श्रम के अन्तरविरोध व पूंजियों के बीच के अन्तरविरोध के कारण, जो कि जुड़े हुए होते हैं, अपने निषेध की ओर जाता है, जबकि छोटी बुर्जुआ निजी सम्पत्ति का स्थान इजारेदारी ले लेती है। सामन्ती इजारेदारी के आन्तरिक अन्तरविरोधों के कारण उसका निषेध और बुर्जुआ निजी सम्पत्ति की स्थापना और बुर्जुआ निजी सम्पत्ति की "मुक्त व्यापार" व्यवस्था के आन्तरिक अन्तरविरोधों के कारण स्वयं उसका निषेध और पूंजीवादी इजारेदारी की स्थापना। और पूंजीवादी इजारेदारी के आन्तरिक अन्तरविरोध के उत्तरोत्तर विकास के फलस्वरूप सामाजिक सम्पत्ति की स्थापना, जोकि पूंजीवादी इजारेदार निजी सम्पत्ति का निषेध होगा और सामाजिक सम्पत्ति की स्थापना। **यानी अन्तरविरोध के नियम के ही एक विस्तार के रूप में हम निषेध का निषेध को समझ सकते हैं, जिसकी एक स्वायत्त अहमियत भी है। क्योंकि किसी भी एक चरण से दूसरे चरण में विकास क्यों होता है, इसे समझने के लिए बुनियादी नियम है विपरीत तत्वों की एकता का नियम, लेकिन एक चरण से दूसरे चरण में विकास के फलस्वरूप जो नयी वस्तु अस्तित्व में आती है वह पिछले चरण में मौजूद वस्तु का विपरीत नहीं होती है, हालांकि यह विकास होता विपरीत तत्वों की एकता के कारण ही है। मिसाल के तौर पर, पूंजीवाद सामन्तवाद का विपरीत नहीं होता है, क्योंकि इसका यह भी अर्थ होगा कि पूंजीवाद का विपरीत सामन्तवाद है और जिससे यह मूर्खतापूर्ण नतीजा निकलेगा कि पूंजीवाद फिर से सामन्तवाद, यानी अपने विपरीत में तब्दील हो जाएगा। यह परिवर्तन हम निषेध का निषेध को समझकर ही व्याख्यायित कर सकते हैं।** इसलिए यह समझना

आवश्यक है कि हर नये चरण में परिवर्तन का तत्व प्रधान होता है, लेकिन एक निरंतरता का तत्व भी होता है। नयी मंजिल में कुछ तत्व पिछली मंजिल के होते हैं और अधिकांश तत्व नये होते हैं।

इसी प्रक्रिया को मार्क्स व एंगेल्स ने और फिर लेनिन ने **उत्सादन (sublation)** की अवधारणा से समझाया था, जोकि मूलत: हेगेल द्वारा विकसित अवधारणा थी। इसका अर्थ यह है कि अन्तरविरोध के समाधान की प्रक्रिया में जो भी जीवक्षम (viable) होता है, वह बचा लिया जाता है, उसे उन्नत किया जाता है जबकि जो जीवक्षम नहीं होता है, वह समाप्त हो जाता है।

मिसाल के तौर पर, लेनिन ने सर्वहारा संस्कृति पर बात रखते हुए कहा कि यह एक नया चरण होगा जिसमें पिछले चरणों के समस्त सकारात्मक तत्वों को, जीवक्षम तत्वों को संरक्षित और परिष्कृत किया जायेगा, जबकि जो नकारात्मक है और अजीवक्षम है, वह समाप्त हो जाएगा। निषेध का निषेध के नियम को समझने के लिए उत्सादन की अवधारणा को समझना अनिवार्य है। लेकिन सुखविन्दर ने निषेध का निषेध के नियम की एक अजीब बचकानी समझदारी पेश की है। **निषेध का निषेध का नियम पुराने के खत्म होने और नये के पैदा होने की समस्या को समझाते हुए उसमें परिवर्तन और निरन्तरता के तत्वों की मौजूदगी को उत्सादन की अवधारणा के ज़रिये समझाता है, जिसके पीछे जो मूल प्रेरक शक्ति है वह विपरीत तत्वों की एकता ही है। इसके लिए आप यदि कुछ सरल पढ़ना चाहते हैं तो सोवियत संघ में 1930 के दशक में दर्शन पर छपी पाठ्यपुस्तक को पढ़ सकते हैं, जोकि अपने कुछ यांत्रिक विचलनों के बावजूद 'निषेध का निषेध' के नियम की कमोबेश सन्तुलित व्याख्या देती है। उसका बस एक उदाहरण यहां देकर हम आगे बढ़ेंगे:**

> "And so the essence of the law of the negation of the negation as exemplified by Marx in application to the emergence and development of capitalsim, amounts to the following basic propositions:
>
> "(1) Between the different phases of the contradictory development of private ownership, there exists a profound internal connection.
>
> "(2) Every phase, **by overcoming the specific form of the contradiction of its predecessor, by negating it, brings forth the form of contradiction that belongs to it and by this means prepares its own negation.**

> "(3) **These phases, by negating each other, resolve *the general contradiction* that belongs to them and therefore *the latter negation of the negation* denotes to a transition to a new law-system, to a new essential contradiction.**
>
> "(4) The double contradiction unites in itself, in certain features, the preceding phases and from the external aspect represents a return to some features of the original form of the basic contradiction. The "synthesis" negates and overcomes both the "thesis" and also the "anti-thesis", but the external form of the "synthesis" reproduces certain features of the external form of the thesis." (Shirokov, Aizenberg, et al, *A Textbook of Marxist Philosophy*, Marxism-Leninism Institute, Moscow)

इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद बहुत अच्छा नहीं है, लेकिन फिर भी थोड़ा प्रयास किया जाय, तो इसे समझना मुश्किल भी नहीं है। वैसे तो निषेध का निषेध का नियम पर लम्बी चर्चा की आवश्यकता होती है क्योंकि यह थोड़ा जटिल विषय है और इसे लेकर महान शिक्षकों में ही एक राय नहीं है, या कम-से-कम एकसमान ज़ोर नहीं है। लेकिन यहां पर हम यह संक्षिप्त परिचय ही दे सकते हैं। इस बहस के विषय में विस्तार से जानने के लिए कई पुस्तकें हैं, जिनमें स्वयं मार्क्स की रचनाएं बेहद महत्वपूर्ण हैं।

साफ देखा जा सकता है कि सुखविन्दर ने द्वन्द्ववाद के इन बुनियादी नियमों का कोई गम्भीर अध्ययन नहीं किया है और वह ज्यादातर सुनी-सुनाई बातों पर निर्भर रहते हैं। **ऐसे में, आप जब तक अपने अज्ञान को खुद तक सीमित रखते हैं, तब तक यह आपका जनवादी अधिकार है। लेकिन जब आप अपने अज्ञान और बचकानेपन की पूरे आत्मविश्वास के साथ ब्रॉडकास्टिंग करने लगते हैं, तो समस्या खड़ी हो जाती है और उसका खण्डन मार्क्सवादियों के लिए एक कर्तव्य बन जाता है।**

3. ऐतिहासिक भौतिकवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के विषय में सुखविन्दर का अज्ञान-प्रसार

सुखविन्दर इसके बाद ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्तों पर आते हैं, या आप कह सकते हैं कि इसके बाद ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्तों की शामत आती है। आइये देखते हैं कि यहां उन्होंने क्या करतब दिखाए हैं।

क. विचारों की गति व विचारधारात्मक गति के विषय में सुखविन्दर के बचकाने विचार

जगरूप के इस दावे का खण्डन करने के लिए कि गति का उच्चतम रूप विचारधारात्मक गति है, सुखविन्दर कहते हैं:

> *"मार्क्सवाद में विचारधारात्मक गति का कोई संबोध ही नहीं है। विचारधारात्मक गति हो ही नहीं सकती है।"*

आगे वह कहते हैं:

> *"विचारधारात्मक गति के लिए विचारधारा का होना ज़रूरी है न। गति तो पदार्थ की होती है, क्या विचारधारा भौतिक रूप में है? फिर तो हम सब लोग दो-दो चार-चार किलो ले जाते घर पर। स्टडी सर्कल करने की ज़रूरत नहीं थी, बस आपको कांटे पर तोल-तोल कर दे देनी थी विचारधारा। कि अवतार अर्श तूं भी ले जा 5 किलो। फिर होना था कि विचारधारा का रेट वगैरह बढ़ जाया करना था। मतलब, यह भी मज़ाक है मार्क्सवाद के साथ, भद्दा मज़ाक है। विचारधारात्मक गति क्या होती है यार? गुस्सा तो नहीं आ रहा मुझे ज़्यादा। आ जाता है थोड़ा। विचारधारात्मक गति कोई नहीं होती है, यह जगरूप की गति है।"*

आगे देखें सुखविन्दर क्या कहते हैं:

> *"अब एंगेल्स ने अपनी पुस्तक Dialectics of Nature, चलो यह आप देख लीजियेगा। जो क्लेक्टेड वर्क्स हैं, यहाँ नहीं है, अंदर रह गई है वह पुस्तक। उसमें एंगेल्स ने एक अध्याय लिखा है। Dialectics of Nature में एक अध्याय है 'Basic Forms of Motion'। पदार्थ की गति के बुनियादी रूप। एंगेल्स ने उसमें चार गतियों की बात की है, जो जगरूप ने पहली चार गतियाँ लिखी हैं, जैविक गति तक। क्योंकि एंगेल्स ने Dialectics of Nature लिखी है, सोसायटी छोड़ दी। समाज की गति को भी मार्क्सवाद मानता है क्योंकि वर्गों के संघर्ष से समाज में भी गति होती है। मार्क्सवाद गति के पाँच रूपों को मानता है। विचारधारात्मक गति को नहीं मानता है। मार्क्स ने इसके बारे में बहुत बढ़िया लिखा है। मार्क्स ने लिखा है, जर्मन विचारधारा में ही है कि विचारधारा का कोई इतिहास नहीं होता है। इतिहास ही गतिशील होता है न। क्योंकि जो विचारधारा है, हमारे मन में ...विचारधारा क्या होती है, उत्पादन संबंधों का, हम जिन उत्पादन संबंधों में जीते हैं ...क्योंकि इसकी व्याख्या बहुत की है, उत्पादन संबंधों की व्याख्या बार-बार नहीं करेंगे। मैं ये सारी बात इस आधार पर कर रहा हूँ कि पहले जितने भी स्टडी सर्कल हुए हैं, उसमें*

जितनी बातें आप लोगों को समझाई गई हैं, मार्क्सवाद के बुनियादी संबोध ...पहले हम संकल्प शब्द उपयोग करते थे अब संबोध करते हैं। वह आपको समझ आ गए हैं, अब उन्हें दोहराने की ज़रूर नहीं है। उत्पादन संबंध के बारे में आप जानते हैं, यह मैं मानकर चल रहा हूँ। उत्पादन संबंधों का मानव मस्तिष्क में प्रतिबिंब विचारधारा होती है। गति भौतिक जगत की है, उसका प्रतिबिंब हमारे दिमाग में बनता है, इसकी अपनी गति कोई नहीं है।"

पहली बात तो यह है कि एंगेल्स ने गति के जिन चार रूपों की की चर्चा 'प्रकृति के द्वन्द्ववाद' में बताईं हैं, वे हैं: यांत्रिक गति (मैकेनिक्स), मॉलीक्यूलर गति (फिजिक्स) तथा एटॉमिक गति (केमिस्ट्री) और उपरोक्त तीनों गतियों के पर्याप्त अध्ययन के बाद सम्भव होता है चौथी यानी जैव गति (बायोलॉजी) का अध्ययन करना। ये चारों अजैविक प्रकृति की गति के रूप हैं, जैसा कि एंगेल्स स्वयं ही बताते हैं। इसके अतिरिक्त, समाज की गति और साथ ही विचारों की गति भी होती है। यानी सामाजिक अस्तित्व व सामाजिक चेतना की गति का अध्ययन। मार्क्स व एंगेल्स दोनों ही अलग-अलग स्थान पर स्पष्ट करते हैं कि चेतना या विचारों की गति सामाजिक अस्तित्व की गति से निर्धारित होती है। दूसरे शब्दों में, चेतना की अस्तित्व से स्वतंत्र कोई गति नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि चेतना अथवा विचारों की कोई गति नहीं होती। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि चेतना की गति किसी स्वतंत्र भाववादी निर्वात में नहीं होती, बल्कि पदार्थ जगत से व्युत्पन्न होती है।

सुखविन्दर का यह कहना कि विचारधारात्मक गति की कोई अवधारणा ही मार्क्सवाद में नहीं है, ग़लत है। मार्क्स कहते हैं कि *पदार्थ की गति से स्वतन्त्र* विचारधारा की कोई गति नहीं है। इसी वजह से विचारधारा का इतिहास और कुछ नहीं होता बल्कि भौतिक विश्व की गति का ही एक प्रतिबिम्बन है। लेकिन वह भी गतिमान होता है। यह कहना कि विचारधारा की कोई गति ही नहीं होती है और यह कहना कि पदार्थ जगत से स्वतन्त्र विचारधारा की कोई गति नहीं होती है, दो अलग चीज़ें हैं।

दूसरी बात, विचारधारा यथार्थ का सही प्रतिबिम्बन नहीं होती है, बल्कि वह वर्ग समाज में छद्म चेतना के ज़रिये निर्मित होती है, एक ऐसे प्रिज्म के रूप में जिसके ज़रिये हम दुनिया को देखते हैं। आम तौर पर, विचार (सभी विचार विचारधारात्मक नहीं होते हैं, वे वैज्ञानिक भी हो सकते हैं) भौतिक जगत का मानव मस्तिष्क पर प्रतिबिम्बन हैं। लेकिन इन विचारों का सामान्यीकरण मानव मस्तिष्क की कार्रवाई है। यह भौतिक जगत के प्रतिबिम्बन से ही स्वयं नहीं पैदा हो जाता है। मानव मस्तिष्क भी एक भौतिक पिण्ड है, और चेतना उसका गुण। उसका प्रकार्य (function) ही सामान्यीकरण (generalization) करना, सूचनाओं व विचारों को तर्कसंगत रूप देना, उनका अमूर्तीकरण (abstraction) करना है। यह सामान्यीकरण वैज्ञानिक भी हो सकता है और विचारधारात्मक भी। लेकिन यह बाह्य पदार्थ जगत किसी भी

प्रकार का सामान्यीकरण आपको स्वत:स्फूर्त रूप से निर्मित रूप में नहीं उपलब्ध कराता है, बल्कि यह मानव मस्तिष्क द्वारा किया जाता है।

मनुष्य समाज में विशिष्ट सामाजिक सन्दर्भों में रहता है, जोकि उसकी चेतना को प्रभावित करता है। वर्ग समाज में वह किसी न किसी वर्ग के सदस्य के तौर पर रहता है और उसकी वर्गीय स्थिति उसकी चेतना और इसलिए उसके सामान्यीकरण को प्रभावित करती है। **बुर्जुआ विचारधारा के प्रस्थानबिन्दु से किया जाने वाला सामान्यीकरण बुर्जुआ वर्ग हितों की सेवा करता है जबकि सर्वहारा विचारधारा के प्रस्थानबिन्दु से किया गया सामान्यीकरण सर्वहारा वर्ग के हितों की सेवा करता है। सर्वहारा विचारधारा वैज्ञानिक विचारधारा होती है, यदि हम लेनिन के अर्थों में इस शब्द का प्रयोग करें। यानी क्लासिकीय मार्क्सवादी अर्थों में वह विचारधारा होती ही नहीं है, बल्कि एक वैज्ञानिक दर्शन होता है।**

विचाराधारा के क्षेत्र में होने वाले ये परिवर्तन या ये गति वास्तव में विचारों के क्षेत्र में होने वाली गति ही है। मार्क्स इस गति को नहीं नकारते हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद का बुनियादी तर्क यह है कि विचारों के क्षेत्र में होने वाली यह गति *भौतिक जगत से स्वतंत्र और स्वायत्त किसी भाववादी निर्वात में नहीं होती*, बल्कि भौतिक जगत की गति ही विचारों के जगत में होने वाली गति के मूल में है। इस रूप में विचारधारा का पदार्थ जगत के इतिहास से कोई *स्वतंत्र* इतिहास नहीं होता है, जिसमें हम विचारों और उसके परकीकरण से पैदा होने वाले भौतिक विश्व के इतिहास को पढ़ें, जैसा कि हेगेल समझते थे। मार्क्स के अनुसार, भौतिक जगत में होने वाले परिवर्तनों के सन्दर्भ में ही विचारधारा के जगत में होने वाले परिवर्तनों को भी समझा जा सकता है। *लेकिन इसका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि विचारों का इतिहास भौतिक जगत के इतिहास से स्वतंत्र नहीं होता है, न कि यह कि विचारों का कोई इतिहास ही नहीं होता है, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है।* देखें मार्क्स क्या लिखते हैं:

> "If for once these theorists treat really historical subjects, as for instance the eighteenth century, they ***merely*** give a history of ideas, ***separated from the facts and the practical development underlying them.***" (Karl Marx, Frederich Engels, 'German Ideology', *our emphasis*)

दूसरे शब्दों में, यहां भाववाद (हेगेल) और भौतिकवाद (मार्क्स) में झगड़ा इस बात का नहीं था कि विचारों का इतिहास हो सकता है या नहीं। जहां भी परिवर्तन होता है, वहां गति होती है, क्योंकि परिवर्तन और कुछ नहीं गति ही है और विचारों के जगत में भी परिवर्तन होता है और इसलिए विचारों के जगत में भी गति होती है। झगड़ा इस बात का था कि हेगेल के अनुसार विचारों की गति का परकीकरण (reification) ही

पदार्थ जगत की गति के रूप में सामने आता है, जबकि मार्क्स का कहना था कि पदार्थ जगत की गति ही विचारों की गति में वैज्ञानिक अथवा विचारधारात्मक रूप में प्रतिबिम्बित होती है; यानी, विचारों की गति पदार्थ जगत की गति से स्वतंत्र नहीं होती और इसीलिए पदार्थ जगत के इतिहास से स्वतंत्र और स्वायत्त विचारों का कोई इतिहास नहीं होता। **मार्क्स यह नहीं कह रहे कि विचारों की कोई गति ही नहीं होती, बल्कि वह यह कह रहे हैं पदार्थ जगत की गति से स्वतंत्र उनकी कोई गति नहीं होती और उनकी गति पदार्थ जगत की गति का ही प्रतिबिम्बन होता है, हालांकि हूबहू प्रतिबिम्बन नहीं।**

एंगेल्स के इन शब्दों पर ग़ौर करें जहां वह कह रहे हैं कि मार्क्स और वह विचारधारात्मक क्षेत्र के स्वतंत्र इतिहास की अवधारणा को ग़लत मानते हैं, न कि विचारधारात्मक क्षेत्र की अपनी सापेक्षिक स्वायत्तता की जो पलटकर भौतिक यथार्थ को भी प्रभावित करती है:

> "Hanging together with this too **is the *fatuous notion of the ideologists* that because we deny *an independent historical development to the various ideological spheres*** which play a part in history we also deny them any effect upon history. The basis of this is the common undialectical conception of cause and effect as rigidly opposite poles, the total disregarding of interaction; these gentlemen often almost deliberately forget that once an historic element has been brought into the world by other elements, ultimately by economic facts, ***it also reacts in its turn and may react on its environment and even on its own causes.*"** (Engels's letter to Franz Mehring, 14 July, 1893, *emphasis ours*)

स्पष्ट है कि सुखविन्दर ने विचारों की गति, विचारधारात्मक गति आदि के बारे में व्याख्यान देने से पहले अपनी थाह नहीं ली, न ही समुचित अध्ययन किया, बस अपनी यांत्रिक और मूर्खतापूर्ण समझदारी को लेकर पिल पड़े हैं। थोड़ा पढ़ कर इन विषयों पर बात करते तो ऐसी शर्मनाक नौबत न आती।

दूसरी बात, सुखविन्दर का यह सोचना कि उत्पादन सम्बन्धों का मानव मस्तिष्क पर प्रतिबिम्ब ही अपने आप में विचारधारा है, ग़लत है। हम ऊपर इस बारे में चर्चा कर चुके हैं कि विचारधारा क्या होती है। **विचार ही अपने आप में विचारधारा नहीं होते हैं। सिर्फ उत्पादन सम्बन्ध ही नहीं बल्कि समस्त भौतिक जगत के मानव मस्तिष्क पर बनने वाले प्रतिबिम्ब या छवियां विचारधारात्मक हो सकती हैं, या वैज्ञानिक रूप से सटीक।** यह कई कारकों पर निर्भर करता है। ये प्रतिबिम्ब अपने आप में विचारधारा नहीं होते हैं।

लुब्बेलुबाब यह कि विचारों की पदार्थ जगत की गति से स्वतंत्र कोई गति नहीं होती है, लेकिन उसकी भी गति होती है, हालांकि वह पदार्थ जगत कि गति का व्युत्पन्न (derivative) व संसाधित रूप होता है। दूसरी बात, विचारधारा उत्पादन सम्बन्धों का मानव मस्तिष्क में प्रतिबिम्बन मात्र नहीं होती है। विचार भी मानव मस्तिष्क में भौतिक जगत का ऐसा प्रतिबिम्बन होते हैं, जो विचारधारात्मक भी हो सकते हैं और वैज्ञानिक भी हो सकते हैं। वैज्ञानिक सामान्यीकरण या अमूर्तीकरण आपको भौतिक जगत में बने-बनाये नहीं मिलते बल्कि मानव मस्तिष्क का प्रकार्य हैं, जो कि स्वयं एक भौतिक वस्तु है, जिसका गुण ही यही है कि वह विशिष्ट इन्द्रियानुगत ज्ञान का सामान्यीकरण कर उसे अमूर्त रूप दे, या सैद्धान्तिक रूप दे। विशिष्ट के सामान्यीकरण के ज़रिये सामान्य की ओर जाना, मूर्त के अमूर्तीकरण के जरिये अमूर्त की ओर जाना, और फिर से विशिष्ट व मूर्त की ओर वापस आना, और दोबारा सामान्यीकरण की प्रक्रिया को अंजाम देना। **भौतिक परिस्थिति और चेतना के बीच के द्वनद्वात्मक रिश्ते को सुखविन्दर नहीं समझ पाते हैं; न ही वह विचरधारा और विज्ञान के बीच का अन्तर समझ पाते हैं; और न ही वह विचार व विचारधारा के बीच अन्तर कर पाते हैं। यहां सुखविन्दर एक बचकाने किस्म के यांत्रिक भौतिकवाद का प्रदर्शन करते हैं।**

ख. मूलाधार और अधिरचना के रिश्तों के बारे में सुखविन्दर की नयी "खोजें"

मूलाधार और अधिरचना के रिश्तों के बारे में एक सही द्वन्द्वात्मक समझदारी होना, ऐतिहासिक भौतिकवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की समझदारी होने के लिए एक अन्य महत्वपूर्ण मानक है। इसके बारे में सुखविन्दर की क्या समझदारी है? आइये देखते हैं।

सुखविन्दर कहते हैं:

> *"रूस में 1861 में भूमि सुधार हुए। राज्य राजा का, ज़ार का। वे भूमि सुधार धीरे-धीरे बढ़ते हुए जो उत्पादन संबंध हैं वे पूँजीवादी हो गए। पर ढांचा सामंती रहा। अब क्या है, जब पुराने ढांचे में, सामंती ढांचे में नए उत्पादन संबंध आ गए, लोगों के लिए नए को चुनना आसान होता है। क्योंकि सामंती से वह बेहतर है न। अब काम क्या रह गया सिर्फ़ अधिरचना को बदलना। अधिरचना को उत्पादन संबंधों के अनुकूल बनाना आपका काम होता है। पर जब पूँजीवाद आ जाता है। अब पूँजीवाद के भीतर समाजवादी उत्पादन संबंध अस्तित्व में नहीं आ सकते हैं।"*

और देखें वह क्या कहते हैं:

> *"अब पूँजीवादी समाज के अंदर-अंदर समाजवादी उत्पादन संबंध अस्तित्व में नहीं आ सकते हैं। इसके लिए आपको करना क्या होगा? समाजवाद की लड़ाई कहाँ से शुरू होती है – अधिरचना से*

शुरू होती है, मूलाधार से नहीं शुरू होती है। मूलाधार से आप कैसे शुरू करेंगे? मूलाधार से शुरू करने का मतलब है, कारखाने छीनना। कारखाने छीनेंगे तो बुर्जुआज़ी डंडा मारेगी। इसलिए, पहले लड़ाई कहाँ से शुरू होती है, विचारों से।''

ग़लत! पूरे मसले की सुखविन्दर बेहद मूर्खतापूर्ण प्रस्तुति करते हैं, जिसका ऐतिहासिक भौतिकवाद से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है।

पहली बात तो यह है कि सामन्ती समाज के भीतर पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध अस्तित्व में आने लगते हैं और सामन्ती आर्थिक संरचना के गर्भ में ही पूंजीवादी सम्बन्धों का विकास होने लगता है, लेकिन यह सामन्ती अधिरचना के ढांचे के भीतर ही पूरा नहीं हो जाता है, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है। वे इस हद तक विकसित हो जाते हैं कि एक नवोदित पूंजीपति वर्ग, मज़दूर वर्ग अस्तित्व में आ जाते हैं, माल उत्पादन विकसित हो जाता है, सामन्ती लगान का मौद्रिक रूप आम तौर पर सामने आ जाता है, वाणिज्य व शहरीकरण का विकास होने लगता है।

इस रूप में यदि में पूंजीवादी समाज में समाजवादी सम्बन्धों के विकसित होने से तुलना करें तो सामन्ती समाज के गर्भ में ही पूंजीवादी सम्बन्ध कहीं ज्यादा विकसित हो जाते हैं। **लेकिन ऐसा नहीं है कि बुर्जुआ क्रान्तियों के लिए सिर्फ अधिरचना बदलने का ही काम रह जाता है। उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन के बहुत अहम और केन्द्रीय कार्य सामन्ती राजकीय अधिरचना, यानी राज्यसत्ता, को बदलकर ही सम्भव होते हैं जैसे कि बुर्जुआ भूमि सुधार, जो कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के सबसे अहम कार्यों में से एक है। इसी प्रकार पूंजीवादी उत्पादन पर लगाम लगाने वाले तमाम सामन्ती सम्बन्धों को कानूनी तौर पर समाप्त कर दिया जाता है, मसलन, अन्यायपूर्ण सामन्ती ट्रिब्यूट व कर आदि। इसलिए पूंजीवादी जनवादी क्रान्तियां सामन्ती राजनीतिक अधिरचना को बदलने के बाद, यानी क्रान्ति के बाद, उत्पादन सम्बन्धों के पूंजीवादी रूपान्तरण का काम भी जारी रखती हैं, वह पहले से ही पूरा नहीं होता है। जहां कहीं पूंजीवाद किसी जनवादी क्रान्ति के ज़रिये नहीं बल्कि क्रमिक प्रक्रिया में आता है *(जो कि समाजवाद के साथ सम्भव नहीं होता, क्योंकि समाजवादी रूपान्तरण में एक शोषक वर्ग दूसरे शोषक वर्ग का स्थान नहीं ले रहा होता है, बल्कि इतिहास में पहली बार एक शोषित वर्ग शोषक वर्ग को अपदस्थ कर अपनी राज्यसत्ता निर्मित करता है, इसलिए वह पुराने राजकीय ढांचे से काम नहीं चला सकता है)* वहां राज्यसत्ता में परिवर्तन भी राज्यसत्ता के भीतर शासक वर्गों के एक लम्बे क्रमिक संघर्ष के ज़रिये होता है, लेकिन वहां भी उत्पादन सम्बन्धों के पूंजीवादी रूपान्तरण का कार्य बुर्जुआजी के सत्ता में हावी होते ही पूरा नहीं हो जाता है, बल्कि उसके बाद भी बहुत से अहम कार्यभार पूरे होने होते हैं।** लुब्बेलुबाब यह कि पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के विकास का एक चरण सामन्ती समाज के बने रहते हुए

ही होता है, और उसके अगले चरण के कार्यभार पूंजीवादी शासक वर्ग के सत्ता में स्थापित हो जाने के बाद ही हो सकता है, चाहे यह पूंजीवादी शासक वर्ग क्रान्ति के ज़रिये सत्ता में आया हो या बिना क्रान्ति के ज़रिये।

क्या समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध पूंजीवादी व्यवस्था के ध्वंस के बाद, यानी पूंजीवादी राजनीतिक अधिरचना के ध्वंस के बाद और समाजवादी व्यवस्था के शुरू होने के बाद ही पैदा होते हैं? नहीं! यह सच है कि जिस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध विचारणीय रूप और परिमाण में सामन्तवाद के भीतर ही पैदा हो जाते हैं, उस रूप और उस मात्रा में समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध पूंजीवादी समाज के भीतर नहीं पैदा हो सकते हैं। इसकी वजह यह है कि समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध का सबसे प्रमुख तत्व यानी सामूहिक मालिकाने का सम्बन्ध किसी भी शोषक व्यवस्था के दायरे के भीतर सम्भव नहीं है। ऐसा सामन्ती व्यवस्था में पूंजीवादी मालिकाने के सम्बन्ध पर लागू नहीं होता है, क्योंकि वह विचारणीय सीमा तक सामन्ती समाज के भीतर ही पैदा हो सकता है, क्योंकि वह भी निजी सम्पत्ति का ही एक रूप है, हालांकि वह सामन्ती इजारेदार मालिकाने से एक अलग प्रकार की निजी सम्पत्ति है। वह पूंजीवादी निजी सम्पत्ति है, जो कि माल उत्पादन, मुनाफे, पूंजी और बेचने-खरीदने की व्यवस्था पर आधारित है, न कि आर्थिकेतर उत्पीड़न की सामन्ती व्यवस्था पर।

लेकिन यदि समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों या उसकी आर्थिक पूर्वशर्तों का कोई रूप पूंजीवादी समाज के गर्भ में ही नहीं पैदा हो जाता है, तो फिर समाजवादी क्रान्ति पूरी तरह से क्रान्तिकारियों की मनोगत कार्रवाई बन जाएगी। वे कौन सी आर्थिक व भौतिक स्थितियां हैं, समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के तत्व हैं जो कि पूंजीवादी समाज के गर्भ में पैदा हो जाते हैं, बढ़ते जाते हैं? **वह है उत्पादन का बढ़ता हुआ समाजीकरण। पूंजीवादी समाज और अर्थव्यवस्था के भीतर ही उत्पादन का समाजीकरण बढ़ते-बढ़ते इस हद तक पहुंच जाता है कि निजी मालिकाने की व्यवस्था की चौहद्दियों के भीतर उसका अस्तित्व असम्भव हो जाता है। मार्क्स ने 'पूंजी' के पहले और तीसरे खण्ड में और लेनिन ने साम्राज्यवाद पर अपनी रचनाओं में इस बात को बहुत विस्तार से समझाया है।** यदि समाजवाद की आर्थिक पूर्वशर्तें पूंजीवादी समाज के आर्थिक आधार के धरातल पर ही उत्पादन के समाजीकरण की परिघटना के रूप में मौजूद नहीं होंगी, *जो कि उत्पादन सम्बन्धों का ही एक तत्व है, यानी श्रम विभाजन का तत्व, तो फिर समाजवादी क्रान्ति कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की मनोगत कार्रवाई (subjective act) बन जाएगी।*

यानी, पूंजीवादी समाज के दायरे में भी उत्पादन का समाजीकरण एक समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध के उदय का परिचायक है, जिसका अन्तरविरोध उत्पादन सम्बन्धों के ही प्रमुख तत्व, यानी मालिकाने के सम्बन्ध के साथ होता है, जो कि पूंजीवादी राज्यसत्ता के रहते निजी मालिकाने के स्वरूप में बना रहता है।

यदि ऐसा न हो तो न तो आर्थिक धरातल पर सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग का वर्ग संघर्ष पनप सकता है और न ही विचारों के धरातल पर समाजवाद की लड़ाई शुरू हो सकती है। **समाजवाद के विचार किसी महान चिन्तक के मस्तिष्क में आकाश से नहीं टपकते, वे भी भौतिक परिस्थितियों में मौजूद वर्ग संघर्ष का ही प्रतिबिम्बन होते हैं। सुखविन्दर का यह दावा के समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के किसी भी तत्व के पूंजीवादी व्यवस्था के दौर में अस्तित्व में आने से पहले ही समाजवाद का संघर्ष विचारों की अधिरचना में शुरू होता है, फिर राजनीतिक अधिरचना के परिवर्तन की ओर जाता है और उसके बाद समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध पहली बार पैदा होना शुरू होते हैं, उन्हें एक मार्क्सवादी नहीं बल्कि युवा हेगेलपंथी बना देता है, हालांकि बौद्धिक तौर पर बेहद दरिद्र किस्म का युवा हेगेलपंथी।**

आगे बढ़ते हैं।

ऊपर सुखविन्दर कहते हैं कि समाजवाद की लड़ाई अधिरचना से शुरू होती है, मूलाधार से नहीं। ग़लत। समाजवाद की लड़ाई भी आर्थिक व भौतिक संघर्षों के रूप में ही शुरू होती है और उनके विकसित होने और क्रान्तिकारी विचारधारा (जो कि सर्वहारा वर्ग के संघर्षों का ही वैज्ञानिक व ऐतिहासिक सामान्यीकरण व निचोड़ है) के आने के साथ राजनीतिक संघर्षों तक जाती है और अन्ततः उसके उच्चतम रूप, यानी राज्यसत्ता प्रश्न तक जाती है। ऐसा नहीं है कि समाजवाद की लड़ाई सीधे पूंजीवादी विचारों से संघर्ष और फिर पूंजीवादी राज्यसत्ता के ध्वंस से ही शुरू होती है। यह भी मनोगत भाववाद है, मार्क्सवाद नहीं।

यदि सुखविन्दर का यह मतलब था कि समाजवादी ***क्रान्ति*** अधिरचना से शुरू होती है, अन्य क्रान्तियां नहीं तो यह भी ग़लत है। **समाजवादी ही नहीं बल्कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति भी राजनीतिक अधिरचना के बदलने का प्रश्न ही है। बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के मामले में बस यह फर्क है कि इसके कार्यभार क्रमिक प्रकिया में लम्बे दौर में भी पूरे हो सकते हैं। लेकिन समाजवादी क्रान्ति के साथ ऐसा नहीं हो सकता है, जिसके कारण की हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। लेकिन क्रान्ति का प्रश्न राज्यसत्ता (राजनीतिक अधिरचना) का ही प्रश्न होता है, चाहे वह समाजवादी क्रान्ति हो या बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का।** ऐसा नहीं है कि लेनिन का राज्य और क्रान्ति का सिद्धान्त केवल समाजवादी क्रान्तियों के लिए ही लागू होता है।

इसके अलावा, समाजवाद की लड़ाई जिस हद तक अधिरचना के क्षेत्र में पहले विचारों की लड़ाई से शुरू होती है, उस हद तक बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियां भी उससे भिन्न नहीं हैं। जब बुर्जुआजी सामन्ती समाज के दायरे में ही आर्थिक तौर पर सशक्त होने लगती है लेकिन उसके उत्तरोत्तर आर्थिक विकास को सामन्ती सम्बन्ध अवरुद्ध करते हैं, तो बुर्जुआ वर्ग व निम्न-बुर्जुआ वर्ग के विचारक (हालांकि वे स्वयं हमेशा अपनी इस भूमिका के प्रति सचेत नहीं होते हैं और अपने जनवाद, समानता और स्वतंत्रता के विचारों को वर्गेतर अर्थों में देखते हैं) ऐसे सिद्धान्तों की रचना करते हैं, जो कि सभी के लिए समानता, स्वतंत्रता व भ्रातृत्व व

जनवाद की कल्पना करते हैं। यह छोटे पैमाने के पूंजीवादी उत्पादन व माल उत्पादन से स्वत: पैदा होने वाली विचारधारा होती है, जिसके वाहक उसे प्राकृतिक, आदर्श व वर्गेतर रूप (natural, ideal and non-class form) में देखते हैं और समूची जनता की मांग के रूप में रखते हैं। **बुर्जुआ वर्ग की विचारधारात्मक लड़ाई भी पूंजीवाद के आने के बहुत पहले, माल उत्पादन व पूंजीपति वर्ग के विकास के साथ पैदा हो चुकी थी। पहले हम पुनर्जागरण में, फिर धार्मिक सुधार आन्दोलन और अन्तत: प्रबोधन में इस विचारधारात्मक लड़ाई के तीन अहम मील के पत्थरों को देखते हैं और उसके बाद बुर्जुआ वर्ग द्वारा की गयी पहली राजनीतिक क्रान्ति, यानी फ्रांसीसी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के साक्षी बनते हैं। इस मामले में क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग ने भी विचारधारा के क्षेत्र में तर्कणा, जनवाद, समानता, स्वतंत्रता व भ्रातृत्व के बैनर तले सामन्तवाद और धार्मिक सत्ता के विरुद्ध संघर्ष अपनी राजनीतिक क्रान्ति के बहुत पहले ही छेड़ दिया था। पूंजीवादी क्रान्तियां इस मायने में समाजवादी क्रान्तियों से भिन्न नहीं होती हैं, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है।** हां, यह ज़रूर है कि यह वैचारिक संघर्ष भी समाज में कुछ भौतिक परिवर्तनों के बाद ही शुरू हो सकता है, कुछ चिन्तकों के दिमाग में कुछ विचार आने के साथ नहीं।

सर्वहारा वर्ग के संघर्षों के साथ ही सर्वहारा वर्गीय चेतना भी पैदा होती है। सर्वहारा वर्ग का दर्शन और विज्ञान, यानी मार्क्सवाद, सर्वहारा वर्ग के संघर्षों का ही ऐतिहासिक व वैज्ञानिक समाहार है, जो उसके संघर्षों के ही साथ विकसित भी होता रहता है। सबसे पहले सर्वहारा वर्ग की विचारधारा बुर्जुआ विचारधारा को परास्त करती है, वह सर्वहारा वर्ग के लिए प्राधिकार बनती है और उसके संघर्षों में उसका अजेय अस्त्र बनती है।

लेकिन इस पूरी गतिकी को समझने में सुखविन्दर बुरी तरह से असफल रहते हैं और इधर-उधर से टीपा-टीपी करके, लेकिन बिना समझे कुछ बातें कहते हैं, जो कि अन्त में निहायत मूर्खतापूर्ण सिद्ध होती हैं। वजह यह है कि किसी भी विषय पर बोलने के लिए अनुक्रमणिका देखकर कोटेशन छांटने से काम नहीं चलता, बल्कि उस विषय को गहराई और गम्भीरता से समझना पड़ता है।

इसके बाद मूलाधार और अधिरचना के रिश्तों पर चर्चा करते हुए सुखविन्दर अपनी अज्ञानता के स्तर को प्रदर्शित करते हैं।

सुखविन्दर कहते हैं:

> *"मार्क्स ने लिखा था कि जब क्रान्ति होती है तो अधिरचना ज़्यादा या कम तेज़ी से (more or less) बदल जाती है, देखिये यह है। ज़्यादा – राज्यसत्ता बदल गई। कम तेज़ी से क्या बदलते हैं, सांस्कृतिक रूप और विचारधारात्मक रूप। ये धीरे-धीरे बदलते हैं। समाजवाद में भी आलसी लोग*

होते हैं। समाजवाद में भी जाति-पाति को मानने वाले लोग होंगे। समाजवाद में महिलाओं को दबाने वाले लोग होंगे। यह धीरे-धीरे बदलेगा।"

आपको भी भरोसा नहीं हुआ होगा कि मार्क्स द्वारा 'कमोबेश' (more-or-less) की कोई अपने आपको मार्क्सवादी कहने वाला व्यक्ति ऐसी व्याख्या कर सकता है! हमें भी पहले भरोसा नहीं हुआ था! हमने बार-बार सुखविन्दर के व्याख्यान के इस हिस्से को रिवाइण्ड करके सुना, तब जाकर हमें भरोसा हुआ! यह मूर्खता का चरम नहीं है तो और क्या है?

मार्क्स का यहां कमोबेश से यह मतलब नहीं है कि राजनीतिक अधिरचना ज्यादा तेजी से बदल गयी और सांस्कृतिक व विचारधारात्मक अधिरचना कम तेज़ी से बदली! मार्क्स इस पैसेज में केवल विचारधारात्मक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, धार्मिक आदि अधिरचना, जिन्हें कुल मिलकर मूलत: विचारधारात्मक अधिरचना के मातहत ही रखा जा सकता है, की ही बात कर रहे हैं, राजनीतिक अधिरचना की नहीं, क्योंकि क्रान्ति और कुछ नहीं बल्कि राजनीतिक अधिरचना का रूपान्तरण ही होता है। **यहां 'कमोबश'** (more-or-less) **से मार्क्स का मतलब है कि एक दी गई निश्चित ऐतिहासिक परिस्थिति में यह अपेक्षाकृत अधिक तेज़ी से बदल सकती है जबकि दूसरी परिस्थितियों में यह अपेक्षाकृत कम तेज़ी से बदल सकती है। दूसरा अर्थ यह है कि इसके अलग-अलग अंग अपेक्षाकृत अलग-अलग गति से रूपान्तरित हो सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सुखविन्दर को 'कमोबेश' शब्द का अर्थ नहीं पता है।**

दूसरी बात, "जब क्रांति हुई तो राज्यसत्ता तेज़ी से बदल गयी", ऐसा कहना ही मूर्खतापूर्ण है। जब क्रान्ति होने का अर्थ ही यह है कि राज्यसत्ता का ध्वंस कर दिया गया, या (पूंजीवादी जनवादी क्रान्तियों के मामले में) उसे रूपान्तरित कर दिया गया, तो इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं बनता है। राज्यसत्ता का ध्वंस ही क्रान्ति है, क्रान्ति होने से राज्यसत्ता तेज़ी से नहीं बदल जाती है। यह बात अपनी पूंछ के पीछे भाग रहे साँप के समान है, जैसा कि मार्क्स ने प्रूधों के बारे में कहा था: उनका यह तर्क कि सम्पत्ति चोरी है, अपनी ही पूंछ के पीछे भाग रहे सांप, यानी ऑरोबोरोस (ouroboros) **के समान है। मिसाल के तौर पर, सुखविन्दर कह रहे हैं कि क्रान्ति होने पर राज्यसत्ता तेज़ी से बदल गयी, लेकिन क्रान्ति क्या है? राज्यसत्ता का ध्वंस! यानी राज्यसत्ता का ध्वंस होने पर राज्यसत्ता तेज़ी से बदल गयी! यहां फिर से सुखविन्दर दिखला देते हैं कि उन्हें मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को भी ढंग से समझने के लिए शुरुआत से विनम्रता से अध्ययन करना चाहिए।**

आखिरी बात यह है कि समाजवादी क्रान्ति के मामले में राज्यसत्ता "बदलती" नहीं है, बल्कि उसका ध्वंस होता है और उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग अपनी नयी राज्यसत्ता का निर्माण करता है। सुखविन्दर

का तर्क वास्तव में स्वयं ही संशोधनवादी नतीजों तक जाता है, हालांकि वह निकले जगरूप के संशोधनवाद से मार्क्सवादी की रक्षा करने हैं!

जैसा कि आप देख सकते हैं कि इन महोदय को ऐतिहासिक भौतिकवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की भी जानकारी नहीं है। ऐसे में, हम फिर से कहेंगे, मार्क्सवाद की संशोधनवादी हमलों से हिफ़ाज़त करने से पहले सुखविन्दर को ज़रा अपनी थाह ले लेनी चाहिए थी क्योंकि जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, समझदार दुश्मन से ज्यादा ख़तरनाक मूर्ख मित्र होता है।

ग. सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के एक पार्टी के शासन होने और बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही के बहुपार्टी व्यवस्था होने का सुखविन्दर द्वारा किया गया विचित्र तर्कपोषण

अब इस प्रश्न पर आते हैं कि सर्वहारा वर्ग का शासन, यानी सर्वहारा वर्ग की तानाशाही या सर्वहारा जनवाद, एक पार्टी व्यवस्था क्यों होगी और बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही नैसर्गिक तौर पर बहुपार्टी शासन क्यों होता है। इस बारे में भी सुखविन्दर के विचार विचित्र हैं, जिनका मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्याख्या से कोई लेना-देना नहीं है। देखें, सुखविन्दर क्या कहते हैं:

> *"उन्होंने कहा कि जनवाद होना चाहिए, बीजेपी वालों ने कहा कि कम्युनिस्ट जनवाद देते हैं? कि इनके शासन में तो एक पार्टी का शासन होता है। बेचारी नग्मा चुप कर गई, उसे खुद यह बात गलत लगती है। लगती ही होगी कि ये तो बहुत कहर है, एक ही पार्टी शासन करेगी। एक ही तो पार्टी शासन करेगी। अभी भी तो एक ही करती है। इन्होंने नाम अलग-अलग रख लिए हैं। पार्टी एक ही है। बुनियादी चीज़ पर सहमत हैं। भारत के संविधान की कस्में खाते हैं। पूँजीवादी समाज को बचाना ... अब अंतर कोई है नहीं। तब भी एक ही पार्टी का शासन होगा।"*

फिर से एक ही में पैराग्राफ सुखविन्दर इतने स्तरों पर अज्ञान का प्रदर्शन करते हैं कि आप अचम्भित रह जाते हैं।

पहली बात तो यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था में कई पार्टियों का होना एक वास्तविक स्थिति होती है। ऐसा नहीं है कि है तो एक ही पार्टी मगर उन्होंने अलग-अलग नाम रख लिए हैं! यह कहना पूंजीपति वर्ग की प्रकृति के बारे में मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षा से भी सुखविन्दर की अनभिज्ञता को दिखलाता है।

यदि आम तौर पर पूंजीपति वर्ग की तानाशाही के सामान्य रूप में कई पार्टियां होती हैं, तो यह बुर्जुआजी की प्रकृति और उसकी आवश्यकता के कारण होता है। **वजह यह है कि बुर्जुआ वर्ग मुनाफे की दर के औसतीकरण (avergaing) के फलस्वरूप एक वर्ग के रूप में संघटित (constitute) होता है; उसका**

बुनियादी तर्क प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप एक वर्ग के रूप में संगठित होना है। पूंजीवाद कई पूंजियों की प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप ही विकसित होता है। समस्त पूंजी कभी भी एक इजारेदार ट्रस्ट में संकेंद्रित नहीं हो सकती है। प्रतिस्पर्द्धा के समाप्त होते ही पूंजीवाद की बुनियादी पूर्वशर्त समाप्त हो जाती है।

यही कारण है कि मार्क्स व लेनिन ने 'परफेक्ट मोनोपोली' के सिद्धान्तों की अपने-अपने समय में खिल्ली उड़ाई थी। बुर्जुआ वर्ग की प्रतिपर्द्धा के फलस्वरूप मुनाफे की दर का औसतीकरण होता है, हर पूंजीपति को अपने कारखाने या अपने सेक्टर में पैदा बेशी मूल्य नहीं मिलता है, बल्कि एक रुझान के तौर पर औसत मुनाफा प्राप्त होता है। जो इस औसत मुनाफे को भी प्राप्त नहीं कर पातीं, वे पूंजियां जीवक्षम नहीं होतीं और उनकी प्रवृत्ति समाप्त हो जाने की होती है। *ये पूंजीपति पूंजीपति वर्ग के "भाईचारे" में शामिल नहीं हो पाते जो कि बाज़ार में मुनाफे के औसतीकरण के ज़रिये पैदा होता है। इसी वजह से बुर्जुआजी एक शासक वर्ग के तौर पर भी अलग-अलग ब्लॉकों में विभाजित होती है और औसत मुनाफे की दर से अधिक मुनाफा हासिल करने, यानी कुल बेशी मूल्य में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए संघर्षरत होती है।*

यह प्रतिस्पर्द्धा अलग-अलग सेक्टरों के पूंजीपतियों के बीच, इजारेदार व गैर-इजारेदार पूंजीपतियों के बीच, औद्योगिक-वित्तीय व कृषि क्षेत्र के पूंजीपतियों के बीच, अलग-अलग क्षेत्रों (regions) के पूंजीपतियों के बीच जारी रहती है। इसीलिए बुर्जुआजी को कई पार्टियों की आवश्यकता होती है और यह एक वास्तविकता होती है, न कि ऐसा होता है कि एक ही पार्टी ने कई नाम रख लिये होते हैं, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है। ज़ाहिर है, सुखविन्दर ने मार्क्स की ऐतिहासिक भौतिकवाद पर केन्द्रित बुनियादी रचनाओं और लेनिन की राजनीतिक रचनाओं का कभी गम्भीर अध्ययन नहीं किया है, वरना उन्हें इतनी बात पता होती। 'विकीपीडिया मार्क्सवादी' बनने के यही नतीजे होते हैं।

बुर्जुआजी को कई पार्टियों की आवश्यकता इसलिए भी होती है क्योंकि उसका शासन बहुसंख्या पर अल्पसंख्या की तानाशाही की नुमाइन्दगी करता है। यह मुट्ठी भर के लिए जनवाद होता है लेकिन व्यापक मेहनतकश जनता के लिए निरंकुश अधिनायकत्व होता है। ऐसे में, किसी भी एक पार्टी का शासन कुछ समय में सन्तृप्ति बिन्दु पर पहुंच ही जाता है और बुर्जुआ वर्ग को अपनी तानाशाही के लिए किसी नये राजनीतिक मुखौटे की आवश्यकता पड़ती ही है। जब यह नया मुखौटा भी सन्तृप्त हो जाता है, तो किसी और मुखौटे की। और फिर पहला मुखौटा भी फिर से उपयोगी बन जाता है, क्योंकि जनता की राजनीतिक चेतना और सामूहिक राजनीतिक स्मृति को बुर्जुआ वर्ग का शासन भोथड़ा बनाकर रखता है और व्यापक जनसमुदाय तमाम पार्टियों के पुराने कुकर्मों को भूल भी जाते हैं, या फिर किसी विकल्प की अनुपस्थिति में भूलने को मजबूर हो जाते हैं।

इसके विपरीत, सर्वहारा वर्ग का संघटनात्मक (constitutive) **तर्क प्रतिस्पर्द्धा नहीं होता है, बल्कि सामूहिकता होता है। पूंजीवादी श्रम बाज़ार द्वारा उन पर प्रतिस्पर्द्धा थोप ज़रूर दी जाती है, लेकिन यह उनका मूल और संघटनात्मक तर्क नहीं है। जब बहुसंख्या (मेहनतकश बहुसंख्या) अल्पसंख्या (शोषक अल्पसंख्या) पर अपना शासन कायम करेगी, तो वह अपने अधिनायकत्व को किसी चाशनी में भिगोकर नहीं पेश करेगी; निश्चित तौर पर, वह एक पार्टी का शासन होगा, लेकिन वह पार्टी समूची मेहनतकश जनता की नेतृत्वकारी कोर और सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी होगी।** सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व भी स्पष्ट तौर पर प्रकट अधिनायकत्व होगा और उसका जनवाद भी सर्वाधिक जनवादी होगा, क्योंकि वह बहुसंख्यक मेहनतकश जनता के लिए होगा।

सुखविन्दर इस बुनियादी अन्तर को नहीं समझ पाते हैं और एक लोकरंजकतावादी, उद्वेलनात्मक बात को मार्क्सवादी तर्क समझ बैठते हैं, कि बुर्जुआ वर्ग की बहुत सी पार्टियां दरअसल एक ही पार्टी है जिन्होंने अलग-अलग नाम रख लिया है, जैसे सड़क पर चलते सामान्य लोग कहते हैं कि "भाई सब पार्टी एक ही है!" उस सड़क चलते व्यक्ति के सामान्य ज्ञान के रूप में ऐसी बात को क्षम्य माना जा सकता है, क्योंकि मार्क्सवाद के विज्ञान तक उसकी पहुंच नहीं है। जब तक मार्क्सवाद की ओर आकर्षित किसी नौजवान ने कुछ शुरुआती पर्चे और अखबारी क्रान्तिकारी साहित्य पढ़ा है, तब तक भी ऐसी ग़लतफ़हमी पाल लेने को माफ़ किया जा सकता है। **लेकिन यदि आप किसी कम्युनिस्ट संगठन की अगुवाई करने वाले लोगों में से एक हैं और अपने आपको मार्क्सवादी सिद्धान्त में माहिर मानते हैं (जैसा कि सन् 2000 के बाद सुखविन्दर बन गये थे, जैसा कि इस व्याख्यान में वह खुद कहते हैं!), तो ऐसी ग़लती क्षम्य नहीं मानी जा सकती है।**

घ. बुनियादी दार्शनिक धाराओं की श्रेणियों के बारे में सुखविन्दर का भोथड़ा "ज्ञान"

आगे सुखविन्दर व्यवहार और विचारधारा के विषय में भी कुछ मुक्त विचारों का प्रतिपादन करते हैं। लेकिन वहां वह यह भी दिखला देते हैं कि कुछ बुनियादी दार्शनिक धाराओं जैसे अधिभूतवाद और अध्यात्मवाद के बारे में भी वह नहीं समझते हैं। आइये देखते हैं।

सुखविन्दर कहते हैं:

> *"विचारधारात्मक गलती की बात करना पर व्यवहार की बात न करना। व्यवहार लोगों को समझदार बनाता है। प्रैक्टिस से आपकी बहुत सी धारणाएं ... जैसे मार्क्सवाद की हमारी समझ स्टैटिक थोड़ा न होती है। अब यदि यहाँ कोई भी मार्क्सवादी है, जब 20 साल पहले मार्क्सवादी*

बना था, तो उसे याद करना चाहिए, वह 20 साल पहले मार्क्सवाद के बारे में क्या सोचता था। मार्क्सवाद की बहुत सी धारणाओं के बारे में उसकी क्या समझ थी। मुझे 2000 में यह भ्रम हो गया कि मुझे तो सारा मार्क्सवाद समझ आ गया। पढ़ा क्या था, एक-दो पुस्तकें – पोलिटीकल इकॉनमी की पढ़कर ,सोवियत यूनियन की पढ़कर लगा कि पता तो है, पढ़ने का क्या फायदा। एक देसी सा आदमी मिल गया, उसने मुझे बहुत रगड़ा। मैंने कहा यार अभी तो समझ नहीं है। कि दोबारा पढ़ना पड़ेगा। जैसे, मार्क्सवाद क्या है? मार्क्सवाद, जो वस्तुगत जगत है ,इसकी व्याख्या है न। मार्क्सवाद की समझ आपकी इस दुनिया की समझ है। जिस दुनिया में जीते हैं, उसकी समझ है। और, वह वस्तुगत जगत लगातार गतिमान होता है। आप उसके प्रवाह में आकर ही उसे जान-समझ सकते हैं। इसलिए प्रैक्टिस आपकी चेतना को लगातार उन्नत करती है। विचारधारात्मक गलती कोई हवा में से थोड़ा न होती है। इसलिए, इसका (जगरूप का) सारा गैर-द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्ववाद का मतलब है हर चीज़ के दोनों पहलुओं को देखना। एक पहलू को देखना तो मैटाफिज़िक्स है, आध्यात्मवाद है।''

फिर से बचकानी बातों का अम्बार।

पहली बात तो यह है कि व्यवहार और सिद्धान्त का इस प्रकार का रिश्ता स्थापित करना ही गैर-द्वन्द्वात्मक बात है। यह कतई अनिवार्य नहीं है कि व्यवहार में लगे रहने से आपकी विचारधारात्मक ग़लतियां स्वत: दुरुस्त हो जाएंगी। व्यवहार में लगे होने की हमारी पद्धति हमें अनुभववादी भी बना सकती है और हमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी भी बना सकती है। एक अनुभववादी अपने संकीर्ण व्यवहार को ज्ञान की कसौटी मानता है और यह भूल जाता है कि सिद्धान्त (यानी वैज्ञानिक सामान्यीकरण से गुज़रने वाला इन्द्रियानुगत ज्ञान) का स्रोत *सामाजिक व्यवहार* होता है, जिसके माओ तीन प्रमुख रूप बताते हैं: उत्पादन, वर्ग संघर्ष और वैज्ञानिक प्रयोग। **यह अपने आप में किन्हीं व्यक्तियों के व्यक्तिगत या निजी व्यवहार से नहीं पैदा होता है, बल्कि इसका स्रोत और कसौटी सामाजिक व्यवहार होता है और महज़ किसी एक पीढ़ी का नहीं बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी सामाजिक व्यवहार द्वारा संचित और सतत् परिष्कृत होने वाला ज्ञान होता है। यदि कोई व्यक्ति विचारधारात्मक ग़लती करता है, तो उसके स्रोत बहुत सी जगह हो सकते हैं। लगातार व्यवहार में लगे लोग भी विचारधारात्मक ग़लतियों का शिकार हो सकते हैं, यदि उन्होंने अब तक स्थापित वैज्ञानिक सिद्धान्तों को आत्मसात नहीं किया है और ऐतिहासिक रूप में सामाजिक व्यवहार को ज्ञान का स्रोत और कसौटी मानने की बजाय अपने संकीर्ण व्यवहार को ज्ञान की कसौटी मान लिया है। मार्क्सवाद का व्यवहार पर बल देने का यह अर्थ नहीं है, व्यवहार करते चलो, विचारधारात्मक ग़लती की चिन्ता मत करो! मार्क्सवाद में व्यवहार पर ज़ोर का अर्थ व्यवहार को लेकर कोई 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते...'-टाइप भावना नहीं है।**

व्यहवार मूल है, उन्हीं अर्थों में जिन अर्थों में अस्तित्व मूल है चेतना नहीं। लेकिन जब व्यवहार और सिद्धान्त का द्वन्द्व शुरू हो जाता है, तो इस द्वन्द्व में कभी व्यवहार का पहलू हावी होता है तो कभी सिद्धान्त का, अन्यथा यह द्वन्द्व कहलाएगा ही नहीं। इस विचार के बारे में विस्तार से जानने में दिलचस्पी रखने वाले साथी इस लिंक पर दिये गये लेख को पढ़ सकते हैं: (facebook.com/notes/abhinav-sinha/व्यवहार-और-सिद्धान्त-के-सम्बन्ध-के-विषय-में-मार्क्सवादी-चिन्तन-एक-समकालीन-पुनराव/3122243311193453)

दूसरी बात यह है कि संशोधनवाद का खण्डन करने वाली मार्क्सवादी स्टडी सर्किल ले रहे इन महोदय को यह भी नहीं पता है कि अध्यात्मवाद और मेटाफिजिक्स एक चीज़ नहीं है। अध्यात्मवादी द्वन्द्वात्मक भी हो सकता है, बस वह निरन्तरतापूर्ण तरीके से द्वन्द्वात्मक भी नहीं हो सकता है। कोई ज़रूरी नहीं कि अध्यात्मवादी एकांगीवाद या यांत्रिकता का भी शिकार हो जो कि द्वन्द्वात्मक नहीं होता और केवल एक पहलू को देखता है, या पहलुओं को अलग-अलग आइसोलेशन में देखता है, उनके अन्तरसम्बन्धों को नहीं। हेगेल एक भाववादी थे, जो कि द्वन्द्वात्मक थे, हालांकि उनके द्वन्द्ववाद में सुसंगति की कमी थी क्योंकि वह एक भाववादी थे। वहीं दूसरी ओर अधिभूतवादी भौतिकवादी हो सकता है, लेकिन द्वन्द्वात्मक नहीं। **ये दो भिन्न श्रेणियों को मिला देना हुआ। अधिभूतवाद व यांत्रिकतावाद द्वन्द्ववाद के विपरीत खड़ी पद्धतियां हैं जबकि अध्यात्मवाद भौतिकवाद के विपरीत खड़ा एक विश्व दृष्टिकोण है। स्पष्ट है कि सुखविन्दर को इन बुनियादी विश्लेषणात्मक श्रेणियों के विषय में सन्तोषजनक जानकारी नहीं है और उनके दिमाग़ में चीज़ें काफी गडडमड्ड हैं। जिस प्रकार सन् 2000 में उनके ही अनुसार उनको यह ग़लतफ़हमी हो गयी थी कि उन्होंने काफी मार्क्सवाद पढ़ और समझ लिया है और किसी "देसी आदमी" (??) ने उनको "काफी रगड़ा" जिसके बाद उन्हें समझ आया कि उन्हें फिर से पढ़ना पड़ेगा, उसी प्रकार आज की भी उनकी स्थिति सन् 2000 से बहुत भिन्न नहीं प्रतीत हो रही है। बस फर्क इतना है कि इस बार ग़लतफ़हमी काफ़ी गहरी हो गयी है और स्थिति काफी गम्भीर है, और उतने ही गम्भीर उपचार की मांग करती है।**

ड. सुखविन्दर का कला की स्वायत्तता और "प्रतिभाओं का सिद्धान्त" तथा राजनीतिक वर्ग व सामाजिक वर्ग के बीच फर्क को समझ पाने में असफलता: राजनीतिक अपढ़पन के नये सीमान्त

सुखविन्दर का "प्रतिभाओं का सिद्धान्त" भी गजब है। यह कारनामा वह तब करते हैं जब वह समझाना चाहते हैं कि हर बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी नहीं होता है और न ही हर सर्वहारा स्वत:स्फूर्त रूप से क्रान्तिकारी होता है, बुर्जुआजी एक वर्ग के रूप में प्रतिक्रियावादी है और सर्वहारा वर्ग एक वर्ग के रूप में क्रान्तिकारी है।

इसे वह सर्वहारा कला को लेकर सोवियत संघ में चली बहस के सन्दर्भ से समझाने का प्रयास करते हैं, लेकिन इस प्रक्रिया में वह अपना एक नया ही "प्रतिभाओं का सिद्धान्त" दे बैठते हैं। आइये देखते हैं कैसे।

वह कहते हैं:

> *"यानी (जगरूप के अनुसार) जो हमारा चिंतन है, वह हमारी भौतिक परिस्थितियों से सीधा पैदा होता है। फिर तो प्रोलेतारी को मार्क्सवादी होना चाहिए। क्या हर प्रोलेतारी क्रान्तिकारी होता है? क्या हर बुर्जुआ प्रतिक्रान्तिकारी होता है? क्या हर बुर्जुआ क्रान्ति-विरोधी होता है, हर बुर्जुआ? बुर्जुआज़ी एक वर्ग के तौर पर क्रान्ति की दुश्मन है, पर उसका हर सदस्य थोड़ा न है। हो सकता है बहुत से इंडस्ट्रियलिस्ट हमें फंड देते हों, आज भी देते हैं, इंडस्ट्रियलिस्ट नहीं देते हैं, बड़ी ज़मीनों वाले तो देते ही हैं। ऊंचे वेतन वाले भी देते हैं। इस अनुसार तो एक डॉक्टर जिसे 1,50,000 मिलते हैं, उसे यहाँ नहीं होना चाहिए क्योंकि उसके दिमाग में तो बुर्जुआ चेतना पैदा होनी चाहिए। मतलब, जैसे भौतिक जगत की मनुष्य के मन में बहुत सी परतें होती हैं, यह बहुत जटिल मामला है। यदि सीधा ही हो, फिर तो काम ही खत्म है। यह असल में प्लेखानोवियन पोज़ीशन है। प्लेखानोव कहता था कि जो एक साहित्यकार होता है, वह जिस वर्ग में पैदा होता है, उस वर्ग का दायरा नहीं तोड़ सकता है। वह उस वर्ग की ही बात करेगा। लेनिन ने कहा कि नहीं, यह बात तुम्हारी सही नहीं है। जो बड़ी प्रतिभाएं हैं, वे अपने वर्ग की सीमाओं को तोड़ देती हैं। जैसे, तोल्स्तोय के बारे में प्लेखानोव ने लिखा है। उसने कहा कि वह कुलीनों के घोंसलों का मूर्तिकार था। लेनिन ने कहा कि तोल्स्तोय रूसी क्रान्ति का आइना था।"*

फिर से एक ही पैराग्राफ में बहुस्तरीय ग़लतियां करने के मामले में तो सुखविन्दर अपनी प्रतिभा सिद्ध कर ही देते हैं।

पहली बात तो यह है कि व्यक्ति की चेतना उसकी भौतिक परिस्थितियों से ही पैदा होती है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि एक भौतिक परिस्थिति में रहने वाले हरेक व्यक्ति की चेतना एक ही होगी। यहां सुखविन्दर दो बातें नहीं समझ पा रहे हैं: पहला, सामाजिक वर्ग (social class) और राजनीतिक वर्ग (political class) में अन्तर और दूसरा तर्कसंगत/बुद्धिसंगत ज्ञान या वैज्ञानिक/सैद्धान्तिक ज्ञान की सापेक्षिक स्वायत्तता।

किसी व्यक्ति की चेतना केवल उसकी अपनी व्यक्तिगत वर्ग अवस्थिति से निर्मित नहीं होती है, बल्कि आम तौर पर भौतिक परिस्थितियों से निर्मित होती है, जिसमें समूचा सामाजिक-आर्थिक और भौतिक यथार्थ शामिल है। निश्चित तौर पर, अपनी व्यक्तिगत सामाजिक वर्ग अवस्थिति का उस पर प्रभाव होता ही है। लेकिन इसके बावजूद निश्चित ऐतिहासिक कारणों से कोई पूंजीपति वर्ग या निम्न-पूंजीपति वर्ग में पैदा हुआ

व्यक्ति सचेतन तौर पर सर्वहारा वर्ग के दर्शन और विचारधारा को अपना सकता है। *उसका सामाजिक वर्ग फिर भी पूंजीवादी या निम्न-पूंजीवादी वर्ग होगा क्योंकि वह उसी वर्ग में पैदा हुआ है, उसी वर्ग में उसकी परवरिश हुई है।* लेकिन समूचे भौतिक जगत और सन्दर्भ में ही उसकी चेतना का निर्माण होता है, जिसके कारण निश्चित कारणों से यह सम्भव हो सकता है, कि वह व्यक्ति सचेतन तौर पर सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के संघर्ष का भागीदार बन जाए। **यानी, राजनीतिक तौर पर किसी व्यक्ति ने सर्वहारा वर्ग अवस्थिति को अपनाया और राजनीतिक तौर पर अब वह सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि बन गया, चाहे उसकी सामाजिक वर्ग स्थिति ग़ैर-सर्वहारा ही क्यों न रही हो।**

दूसरी बात यह कि समान भौतिक परिस्थितियों में पैदा होने और पलने-बढ़ने वाले दो भाई बिल्कुल विपरीत वर्ग अवस्थिति अपना सकते हैं क्योंकि चाहे उनके इन्द्रियानुगत संवेदनों को ग्रहण करने का दायरा मिलता-जुलता हो सकता है, मगर इन्द्रियानुगत संवेदनों का सामान्यीकरण कर उसे एक सिद्धान्त का रूप देने में तर्क व विज्ञान की भूमिका आती है, और इसी वजह से इस प्रक्रिया की *एक सापेक्षिक स्वायत्तता* होती है। समान सूचनाओं के दो भिन्न प्रकार के सामान्यीकरण हो सकते हैं। इसका कारण यही है।

मिसाल के तौर पर, यदि कोई वैज्ञानिक सत्य के प्रति ईमानदार है, अपने शोध के प्रति ईमानदार है, तो कई बार उसकी खोज के नतीजे उसके अपने विचारधारात्मक पूर्वाग्रहों के विपरीत जा सकते हैं। नतीजतन, वह अपनी खोज के नतीजों को अपने विचारधारात्मक पूर्वाग्रहों के आधार पर व्याख्यायित करने का प्रयास करता है। ऐसे में, उसके दार्शनिक नतीजे ग़लत होते हैं, लेकिन उसके वैज्ञानिक नतीजे क्रान्तिकारी होते हैं। मिसाल के तौर पर, वर्नर हाइज़ेनबर्ग की खोज वैज्ञानिक तौर पर क्रान्तिकारी थी, लेकिन उनके द्वारा अपनी ही वैज्ञानिक खोज की दार्शनिक व्याख्या वैज्ञानिक नहीं बल्कि विचारधारात्मक थी। उनका अनिश्चितता का सिद्धान्त प्रकृति के द्वन्द्ववाद को सिद्ध करता है, लेकिन उनके दार्शनिक नतीजे नवकाण्टवादी व अज्ञेयवादी थे। इसमें हम विज्ञान के शोध की सापेक्षिक स्वायत्तता को देख सकते हैं और कोई भी वैज्ञानिक होगा जो सत्य के प्रति वफादारी रखेगा, तो उसकी विचारधारात्मक-दार्शनिक आस्थाएं चाहें कुछ भी हों, स्वयं उसकी खोजें उसका अतिक्रमण कर जाएंगी। ऐसे मैक्स प्लांक के साथ भी हुआ था, हाइजेनबर्ग के साथ भी और अन्य कई वैज्ञानिकों के साथ भी। यहां इन लोगों का प्रतिभावान होना गौण महत्व का है, पहली चीज़ यह है कि वे एक ईमानदार वैज्ञानिक थे।

तीसरी बात यह है कि तोलस्तोय या बाल्ज़ाक कुलीन वर्गों के प्रतिनिधि होने के बावजूद अपने साहित्य में समाज का जो यथार्थवादी चित्रण करते हैं, वह उसी कुलीन समाज के विरुद्ध खड़ा हो जाता है, तो इसका कारण महज़ यह नहीं है कि वे प्रतिभावान थे, बल्कि कहना चाहिए कि यह प्रमुख कारण भी नहीं है। प्रमुख कारण यह है कि वे महान कलाकार थे, जो कि एक सच्चे यथार्थवादी के समान सत्य के चित्रण के

प्रति ईमानदार थे। यह दीगर बात है कि उनकी वर्ग-दृष्टि के कारण सत्य का यह चित्रण, उनकी इच्छा से स्वतंत्र, कई बार उनके इस चित्रण को बाधित भी करता था। यहां सुखविन्दर कला की सापेक्षिक स्वायत्तता को नहीं समझ पाए हैं।

लेनिन की 'रिफ्लेक्शन थियरी' भी वास्तव में इसी स्वायत्तता के बारे में ही बताती है। इस सिद्धान्त के अनुसार, यदि कोई कलाकार प्रोपगैण्डिस्ट (प्रचारक) के रूप में कोई रचना लिख रहा है, तो वह एक कलात्मक रचना बन ही नहीं पाएगी। प्रोपगैण्डिस्ट का अर्थ है कि अपने वर्ग हितों के प्रति सचेत होकर और उसकी सेवा करने के सचेतन फैसले के साथ। कलाकार यदि सच्चे मायने में कलाकार है, तो उसका कर्तव्य होता है सामाजिक यथार्थ का एक सही और ईमानदार चित्रण करना। इस प्रक्रिया में उसकी कलात्मक रचना कई बार उसके हाथों से भी निकल जाती है। वह अपने पात्रों से कहलवाना कुछ चाहता है, लेकिन वे कहते कुछ और हैं, वह उनसे करवाना कुछ चाहता है, लेकिन वे करते कुछ और हैं। यानी, यदि कलाकार सच के प्रति वफ़ादारी (fidelity to truth) रखता है, तो उसकी कला की उसकी सामाजिक वर्ग स्थिति व सचेतन अवस्थिति से सापेक्षिक स्वायत्तता होगी। ग़ौर करें, सापेक्षिक स्वायत्तता, पूर्ण स्वायत्तता नहीं। क्योंकि एक ही यथार्थ को देखने के जो कई दृष्टिकोण होते हैं, उन पर वर्ग की छाप भी होती है। एक ही यथार्थ में कुछ चीज़ें कुछ रचनाकारों के लिए अदृश्य हो सकती हैं, जबकि दूसरे कलाकारों के लिए वे ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो सकती हैं। लेकिन इन सबके बावजूद यदि कलाकार वास्तव में कलाकार है, प्रोपगैण्डिस्ट नहीं, तो सामाजिक यथार्थ का कोई न कोई पहलू या कुछ पहलू अवश्य ही उसकी रचना से छनकर पाठक तक पहुंच जाएंगे। **यही चीज़ किसी रचना को वास्तव में कलात्मक रचना बनाती है। जिन रचनाओं में यथार्थ का यह चित्रण होता है, वह कलात्मक रचना है, चाहे वह किसी बहुत प्रतिभावान व्यक्ति ने लिखी हो या किसी कम प्रतिभावान व्यक्ति ने। अलग-अलग व्यक्तियों की प्रतिभा से बस यह फर्क पड़ सकता है कि उनकी रचनाओं में यथार्थ का चित्रण ज्यादा बारीक, गहरा, शिल्प के मामले में अधिक शक्तिशाली और उनका कैनवास ज्यादा व्यापक हो सकता है।**

इसलिए अपनी वर्ग की सीमाओं को एक हद तक तोड़ने के लिए कलाकार के लिए सिर्फ व्यक्तिगत प्रतिभा का धनी होना पर्याप्त नहीं है, बल्कि, उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह कि उसे यथार्थ व सत्य के प्रति वफादारी रखने वाला *एक सच्चा कलाकार* होना ज़रूरी है। वास्तव में प्रतिभाओं का यह सुखविन्दर का सिद्धान्त एक टटपुंजिया सिद्धान्त है, जोकि लेनिन के विचारों का विकृतिकरण करता है।

हम जानते हैं कि इसमें सुखविन्दर का इरादा बुरा नहीं रहा होगा, लेकिन अज्ञान अपना काम तो कर ही डालता है। लेकिन इस अज्ञान को छिपाने के लिए सुखविन्दर कुछ नाम टपकाते रहते हैं यानी name-dropping करते रहते हैं। जैसे वह कहते हैं कि "जैसे ग्राम्शी कहता है कि परतें होती हैं"। पता नहीं कहां

कहा है, हालांकि यह ऐसी सामान्य बात है, कि ग्राम्शी ही नहीं सभी बड़े मार्क्सवादियों ने कहीं-न-कहीं तो कही ही होगी! *लेकिन इस प्रकार ग्राम्शी का नाम टपकाने से व्याख्यान की प्रभावोत्पादकता बढ़ सकती है। लेकिन यहां बढ़ नहीं पाई है, क्योंकि उसके साथ जो कई टोकरी मूर्खता गिराई गई है, उसने सारी योजना खटाई में डाल दी है।*

सामाजिक वर्ग व राजनीतिक वर्ग के अन्तर को ही न समझा पाने की अपनी जारी नाकामयाबी में सुखविन्दर एक और मूर्खतापूर्ण उदाहरण देते हैं। देखिये वह क्या कहते हैं:

> *"एक बहुत बढ़िया पुस्तक है टेरी ईगलटन की, 'मार्क्सवादी साहित्यालोचना'। उसमें उसने ... कहता है कि आपका वर्ग, राजनीतिक अधिरचना, यह भी प्रभावित करती है। जैसे, मोदी डंडा चलायेगा तो बहुत से बुर्जुआ भी कहेंगे ... यदि कॉमरेड लड़ेंगे तो बुर्जुआ हिमायत करेंगे क्योंकि जो राजनीतिक अधिरचना है, वह प्रभावित कर रहा होता है। एनडीटीवी क्या प्रोलेतारी की संस्था है, बुर्जुआ संस्था ही है न? क्योंकि जो राजनीतिक अधिरचना है, वह उसे प्रभावित कर रही है। लोग कुछ समय के लिए अपने वर्ग के विपरीत किसी अन्य वर्ग के पक्ष में जा सकते हैं।"*

यहां भी चार-पांच वाक्यों में मूर्खता का इतना ढेर लगा दिया गया है कि आप ताज्जुब में पड़ जाते हैं।

पहली बात तो यह है कि टेरी ईगलटन की 'मार्क्सवादी साहित्यालोचना' नाम की कोई पुस्तक नहीं है, बल्कि पुस्तक का नाम है 'मार्क्सवाद और साहित्यालोचना'।

दूसरी बात, टेरी ईगलटन ने अपनी इस पुस्तक में क्या कहा है, यह तो सुखविन्दर ठीक से नहीं बता पाए हैं, *लेकिन ईगलटन वहां मूलत: यही कह रहे हैं कि एक कलाकार जब यथार्थ के प्रति और सत्य के प्रति वफादारी रखता है, तो उसके रचना-कर्म की अन्तर्वस्तु का निर्धारण महज़ उसके सामाजिक वर्ग मूल से नहीं होता है, बल्कि यहां पर कला की सापेक्षिक स्वायत्तता भी सक्रिय होती है, बशर्ते कि वह वाकई एक ईमानदार कलाकार हो, न कि एक प्रोपगैण्डिस्ट।* (देखें, टेरी ईगलटन, 2006, इण्डियन रीप्रिण्ट, 'मार्क्सवाद और साहित्यालोचना', अंग्रेजी संस्करण, रूटलेज, पृ. 8-18) **जाहिर है कि सुखविन्दर बिना इस पुस्तक को पढ़े, या ज्यादा से ज्यादा कोई समीक्षा इण्टरनेट पर पढ़कर फिर से name-dropping कर रहे हैं। यह वास्तव में बौद्धिक बेईमानी ही होती है।**

दूसरी बात: मोदी के डण्डा चलाने पर जब बुर्जुआ वर्ग के भी कुछ हिस्से संघर्षरत कॉमरेडों का साथ देते हैं, तो उसका यह अर्थ नहीं होता है कि बुर्जुआ वर्ग के ये हिस्से अपनी वर्ग अवस्थिति से स्वायत्त हो गये हैं। निश्चित तौर पर, कुछ बुर्जुआ *व्यक्ति* सचेतन तौर पर सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक अवस्थिति अपनाते हैं, लेकिन वह एक अलग मामला है। वह बुर्जुआ वर्ग के किसी हिस्से द्वारा कम्युनिस्टों का साथ

देने की मिसाल नहीं है। जब बुर्जुआ वर्ग के भी कुछ हिस्से कम्युनिस्टों द्वारा फासीवादियों के विरुद्ध किये जा रहे किसी संघर्ष में साथ देते हैं, तो उसकी वजह यह होती है कि बुर्जुआ वर्ग अलग-अलग ब्लॉकों में बंटा होता है, जिनके बीच आर्थिक और साथ ही राजनीतिक अन्तरविरोध होते हैं, जो कि कुछ विशेष मामलों में सर्वहारा वर्ग से अन्तरविरोध के उतने तीखे न होने पर शत्रुतापूर्ण भी बन सकते हैं। इसलिए यदि मोदी के डण्डा चलाने पर कभी लालू प्रसाद यादव या बुर्जुआ वर्ग के गैर-फासीवादी ब्लॉक (जो कि आज के संकट के दौर में नगण्य ही है) किसी कम्युनिस्ट संघर्ष का भी साथ देते हैं, तो यह उनका अपनी वर्ग अवस्थिति से स्वायत्त हो जाना नहीं है, बल्कि ठीक अपने वर्ग हितों की सेवा करना ही है!

एनडीटीवी का मामला भी ऐसा ही है। विभिन्न बुर्जुआ चैनल भी बुर्जुआजी के अलग-अलग ब्लॉकों या कुछ निश्चित ब्लॉकों की नुमाइन्दगी करते हैं। कुछ बड़ी इजारेदार पूंजी की, कुछ क्षेत्रीय छोटी बुर्जुआजी की, कुछ गैर-इजारेदार बुर्जुआजी की, कोई निम्न-पूंजीपति वर्ग, आदि की सेवा करते हैं। एनडीटीवी यदि कुछ मसलों पर खुली प्रतिक्रियावादी व फासीवादी नीतियों की आलोचना करता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह बुर्जुआ वर्ग हितों के विपरीत या उससे स्वायत्त हो गया है। सुखविन्दर को यदि यह लगता है कि एनडीटीवी जब सरकार की किसी नीति की आलोचना करता है, तो इसका यह अर्थ है कि "राजनीतिक अधिरचना से प्रभावित होकर" वह अपने वर्ग के उलट अवस्थिति अपना रहा है, तो इस पर केवल हंसा ही जा सकता है। सुखविन्दर बुर्जुआ वर्ग की प्रकृति के बारे में मार्क्सवादी शिक्षा से अनभिज्ञ हैं। शायद कोई शुरुआती टेक्स्टबुक पढ़कर वह इस पर व्याख्यान देने बैठ गये हैं।

च. विचारधारा पर मार्क्स के चिन्तन और उसके पूरे इतिहास के विषय में सुखविन्दर का आश्चर्यजनक अज्ञान

इसके बाद सुखविन्दर मार्क्स व एंगेल्स की विचार-यात्रा के इतिहास और स्वयं मार्क्सवाद के बारे में अपने अज्ञान का ज़बर्दस्त प्रदर्शन करते हैं। उन्हें लगता है कि मार्क्स ने विचारधारा के प्रश्न पर ज़्यादा काम नहीं किया है। इससे ज़्यादा मज़ाकिया बात क्या हो सकती है? सुखविन्दर कहते हैं:

> *"इसके बारे में अधिक जानना है तो हमें Dictionary of Marxist Thought के आइडियोलॉजी वाले चैप्टर, जो दो ढाई पेज का है, उसे पढ़ लेना चाहिए। इस पर हमें टेरी ईग्लटन को पढ़ लेना चाहिए। क्योंकि मार्क्स ने आइडियोलॉजी पर थोड़ा सा काम किया है।"*

क्या बकवास है यह? यह तो मार्क्सवाद के किसी शुरुआती छात्र द्वारा भी नहीं कहा जा सकता है!

सच यह है कि मार्क्स ने अपने चिन्तन व रचना-कर्म की शुरुआत ही विचारधारात्मक आलोचना से की थी। 1843-4 में 'क्रिटीक ऑफ हेगेल्स फिलॉसफी ऑफ राइट', 1844-45 में 'होली फैमिली', 1846 में 'जर्मन आइडियॉलजी' और 1847 में 'पावर्टी ऑफ फिलॉसफी' तक मार्क्स का अधिकांश लेखन ही विचारधारा की आलोचना के प्रश्न पर ही था। आर्थिक प्रश्नों पर वह दर्शन के अध्ययन के अंग तौर पर जितना विचार कर पाए थे, बस वही था, जैसा कि '1844 की आर्थिक व दार्शनिक पाण्डुलिपियां' में देखा जा सकता है।

शुद्धतः राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना के लिए गम्भीर अध्ययन का काम ही मार्क्स 1850 के दशक की शुरुआत में करते हैं। इसके बाद भी राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना रखते हुए अपनी सभी रचनाओं में वह विचारधारा की आलोचना के काम को जारी रखते हैं। जिसने भी 'पूंजी' व 'बेशी मूल्य के सिद्धान्त' पढ़ी है, वह जानता है कि 'पूंजी' केवल राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना नहीं बल्कि विचारधारा की आलोचना भी है, क्योंकि बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक वैज्ञानिक पहलू था, जिसे मार्क्स 'एसोटेरिक आस्पेक्ट' (esoteric aspect) **बोलते थे, तो वहीं एक विचारधारात्मक पहलू भी था, जिसे मार्क्स 'एक्सोटेरिक आस्पेक्ट'** (exoteric aspect) **बोलते हैं। इसलिए जब आप मार्क्स द्वारा फिजियोक्रैट्स, स्मिथ, रिकार्डो, मिल, आदि की आलोचना पढ़ते हैं, तो आप पाते हैं कि यह राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना के साथ-साथ बुर्जुआ विचारधारा की आलोचना भी है।**

लुब्बेलुबाब यह कि कोई राजनीतिक रूप से निपट अपढ़ व्यक्ति ही यह कह सकता है कि विचारधारा पर मार्क्स ने कम काम किया है और इस प्रश्न को समझने के लिए आप टेरी ईगलटन की किताब 'आइडियॉलजी' या किसी अन्य पुस्तक को पढ़िये। *ईगलटन का विचारधारा पर कार्य वैसे भी बहुत ही सार-संग्रहवादी है। उनकी पुस्तक का पहला अध्याय है 'विचारधारा क्या है?' जिसमें उन्होंने विचारधारा शब्द के बदलते अर्थों की चर्चा है। लेकिन ईगलटन भी काफी गड्डमड्ड करते हुए अन्त में इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि विचारधारा वास्तव में विश्व को देखने का एक प्रिज्म देती है, जोकि छद्म चेतना पर आधारित है, लेकिन इस छद्म चेतना का आधार मौजूदा भौतिक स्थितियों में होता है और इसलिए इसके विरुद्ध संघर्ष भी सिर्फ विचारधारात्मक स्तर पर नहीं चलाया जा सकता बल्कि विचारधारात्मक धारणाओं का खात्मा इन भौतिक परिस्थितियों के खात्मे के साथ ही हो सकता है। इसके लिए ईगलटन मार्क्स की माल अन्धभक्ति की अवधारणा का सही उदाहरण देते हैं। जो साथी ईगलटन की यह पुस्तक पढ़ चुके हैं वह समझ जाएंगे कि अगर सुखविन्दर ने टेरी ईगलटन की यह पुस्तक भी पढ़ी होती तो वह ऐसा बचकाना दावा न करते कि मार्क्स ने विचारधारा के प्रश्न पर कम काम किया है, क्योंकि टेरी ईगलटन प्रबोधन के युग से लेकर बीसवीं सदी के कुछ प्रातिनिधिक दार्शनिक हस्तियों व धाराओं का आलोचनात्मक परिचय देते हुए कई जगहों पर मार्क्स द्वारा विचारधारा की आलोचना के क्षेत्र में किये गये वृहद और उत्कृष्ट कार्य की चर्चा करते हैं।*

इसके अलावा, स्वयं 'डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट' में 'आइडियॉलजी' की एण्ट्री अगर सुखविन्दर ने पढ़ी होती तो भी वह ऐसी बात नहीं करते। यह एण्ट्री जोर्गे लोरेन ने लिखी है। हालांकि यह बहुत अच्छी एण्ट्री नहीं है, लेकिन फिर भी उसे पढ़कर कोई इतना तो समझ ही जाएगा कि विचारधारा पर मार्क्स ने बहुत काम किया है। मतलब यह हुआ कि सुखविन्दर बिना इन पुस्तकों को पढ़े फिर से नाम टपका रहे हैं, हालांकि इन पुस्तकों का हवाला भी उन्होंने खुद ही दिया है! *बौद्धिक दम्भ और अज्ञान का मिश्रण अक्सर ही बेईमानी भी पैदा कर देता है। मार्क्सवाद पर लोगों को शिक्षित करना एक क्रान्तिकारी के लिए बड़ी जिम्मेदारी का काम होता है और उसमें इस प्रकार की ग़ैर-जिम्मेदार हरक़त की कतई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए।*

इसके बाद सुखविन्दर इसी विषय पर अपने अज्ञान का प्रदर्शन जारी रखते हुए लिखते हैं:

> *"बाद में उन्होंने (मार्क्स ने) इस प्रश्न को छोड़ दिया। लेनिन ने बहुत काम किया है। ग्राम्शी ने काम किया है। इस तरह का कोई यांत्रिक संबंध नहीं होता है। हमारे हालात और हमारी सोच में सीधा-सीधा कोई यांत्रिक संबंध नहीं है। एक ही माता-पिता के दो भाई, एक खालिस्तानी हो सकता है, एक कम्युनिस्ट हो सकता है। एक संघ का चड्डीधारी हो सकता है, दूसरा लाल झंडे वाला हो सकता है।"*

पहली बात ही ग़लत! मार्क्स ने विचारधारा की आलोचना के काम को कभी छोड़ा नहीं था। जब मुख्य तौर पर वह राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना के कार्य को अपने हाथ में ले चुके थे, तब भी विचारधारा की आलोचना का काम जारी था और राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना से संलयित होकर चल रहा था।

दूसरी बात, यहां फिर सुखविन्दर इस बात को समझा नहीं पाए हैं कि क्यों एक ही माता-पिता के दो भाइयों में से एक कम्युनिस्ट हो सकता है और दूसरा खालिस्तानी, क्योंकि उन्हें सामाजिक वर्ग मूल और राजनीतिक वर्ग अवस्थिति, या ज्यादा सामान्य शब्दों में कहें तो सामाजिक वर्ग और राजनीतिक वर्ग के बीच अन्तर नहीं पता है। मूल तर्क यहाँ से गायब है। यानी सामाजिक वर्ग मूल और राजनीतिक वर्ग अवस्थिति के बीच का अंतर।

मुख्य अंतर जिसकी व्याख्या करने की जरुरत है वह है सामाजिक वर्ग चेतना और राजनीतिक वर्ग चेतना के बीच का फर्क। पहली प्रदत्त ऐतिहासिक-सामाजिक वास्तविकता है। राजनीतिक चेतना का निर्माण राजनीतिक वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया में होता है। इस संघर्ष के दौरान, *पूरा का पूरा बुर्जुआ वर्ग* सर्वहारा अवस्थिति नहीं अपना सकता लेकिन *बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ वर्ग के कुछ व्यक्ति* सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक वर्ग अवस्थिति अपना सकते हैं। इसका ठीक उल्टा भी होता है। *सर्वहारा वर्ग के भी कुछ*

व्यक्ति बुर्जुआ वर्ग अवस्थिति अपना सकते हैं। **इसी को मार्क्सवादी-लेनिनवादी सामाजिक और राजनीतिक वर्ग के बीच का अंतर कहते हैं।** सुखविन्दर इस अवधारणा को बिल्कुल नहीं समझते। जिन साथियों को इस अवधारणा को समझने में दिलचस्पी है, वे मार्क्स की 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष, 1848-50' पढ़ सकते हैं।

छ. संशोधनवाद का खण्डन करते-करते संशोधनवादी तर्क के गड्ढे में गिरने की सुखविन्दर की अनोखी अदा!

सुखविन्दर इस व्याख्यान में जगरूप के संशोधनवाद की आलोचना करने और उससे मार्क्सवाद की हिफ़ाज़त करने निकले हैं। लेकिन वह स्वयं ही संशोधनवादी तर्कों के गड्ढे में गिर जाते हैं। आइये देखते हैं वह यह कार्रवाई कैसे करते हैं!

सुखविन्दर कहते हैं:

> *''सोवियत यूनियन बाद में तो एक ढाँचा था क्योंकि जो ,में पूँजीवादी देश बन गया था 1956 वे एकदम से पूँजीवाद की पुनर्स्थापना नहीं कर सकते थे ,संशोधनवादी थे।''*

यह है सुखविन्दर की समझदारी। संशोधनवाद की मुखालफत करते हुए खुद ही संशोधनवाद के गड्ढे में जा गिरे। यह कतई सही तर्क नहीं है और सुखविन्दर अन्तरविरोधी बात कर रहे हैं, जोकि उनके दिमागी गड्डमड्ड की ही परिचायक है। पूंजीवाद की पुनर्स्थापना एकदम ही हुई थी; किसी भी सामाजिक संरचना का चरित्र राज्यसत्ता के चरित्र से तय होता है। **सोवियत संघ में स्तालिन के मृत्यु के बाद संशोधनवादियों द्वारा राज्यसत्ता पर कब्ज़े के साथ ही पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो गयी, जी हां, एकदम से हो गयी**! उसके बाद सामाजिक व आर्थिक स्तर पर समाजवादी संस्थाओं को नष्ट करने का काम कुछ दशक ले सकता है। **लेकिन जब राज्यसत्ता का चरित्र ही पूंजीवादी हो गया तो समस्त राजकीय सम्पत्ति भी सर्वहारा वर्ग की सम्पत्ति नहीं रही, बल्कि मूलत: पूंजीपति वर्ग की सम्पत्ति बन गयी।** बुर्जुआ क्रान्तिओं के बाद भी, कई सारे सामन्ती सम्बन्ध और संस्थाएँ बचे हुए थे, विशेषकर इंग्लैंड में। हालाँकि, जैसे ही बुर्जुआ वर्ग राज्य का अधिपति बन गया, इंग्लैंड को पूंजीवादी देश ही कहा जाएगा। **यानी, यह राज्यसत्ता का चरित्र है जो किसी भी समाज व व्यवस्था के चरित्र को तय करता है। अन्यथा सुखविन्दर को 1917 से 1936 के बीच भी सोवियत संघ में समाजवाद को नहीं मानना चाहिए और कहना चाहिए कि रूसी कम्युनिस्ट 1917 में समाजवाद नहीं ला पाए थे, 1936 तक धीरे-धीरे ला रहे थे, क्योंकि सामूहिकीकरण आन्दोलन तभी पूरा हुआ था! जाहिर है कि जब राज्यसत्ता पर सर्वहारा वर्ग काबिज़ हो गया तो यह**

सिर्फ समय की बात है कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में समाजवादी रूपान्तरण का कार्य कब पूरा होता है।

सुखविन्दर का तर्क पूर्णत: वही तर्क है जो कि समाजवाद के सोवियत संघ में पतन पर संशोधनवादी 1960 से 1980 के दशकों के बीच दे रहे थे कि पूंजीवाद की एकदम से पुनर्स्थापना नहीं हो सकती। इस प्रकार का तर्क ही "वस्तुत: अस्तित्वमान समाजवाद" (actually existing socialism) के संशोधनवादी युक्ति की तरफ जाता है। 1956 में जो हुआ वह पूंजीवादी पुनर्स्थापना ही थी और *पूर्ण रूप से सम्पन्न हो चुकी* पूंजीवादी पुनर्स्थापना थी। स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है कि सुखविन्दर को राज्य के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त की कोई स्पष्ट समझदारी नहीं है। नतीजतन, स्थिति यह पैदा होती है कि सुखविन्दर गये मार्क्सवाद को जगरूप के संशोधनवाद से बचाने और मार्क्सवाद खुद उनके ही संशोधनवाद से बचा-बचा फिर रहा है!

ज. उत्पादन सम्बन्धों की अवधारणा के विषय में सुखविन्दर की समझदारी: भ्रम, मतिभ्रम, दिग्भ्रम!

सुखविन्दर का मानना है कि कानूनी सम्पत्ति सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्ध का अंग नहीं होते हैं। इससे बड़ी मूर्खता की बात क्या हो सकती है। उत्पादन सम्बन्धों के तीन आयाम होते हैं: सम्पत्ति सम्बन्ध, जो कि सबसे अहम होते हैं और अन्य दोनों आयामों को *आम तौर पर* निर्धारित करते हैं; दूसरा, श्रम विभाजन; और तीसरा है वितरण के सम्बन्ध। उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण का कार्य सम्पत्ति सम्बन्धों को बदलने से ही शुरू होता है और उसके बिना शुरू हो भी नहीं सकता है। मिसाल के तौर पर, सर्वहारा सत्ता अपनी स्थापना के बाद सबसे पहले निजी सम्पत्ति का उन्मूलन करती है; श्रम विभाजन और वितरण के सम्बन्धों को रूपान्तरित करने का काम एक लम्बा काम होता है, जोकि सांस्कृतिक क्रान्तियों से जुड़ा हुआ कार्यभार है। यह सच है कि यदि बाकी दो आयामों का समाजवादी रूपान्तरण नहीं होता है, तो फिर पूंजीवादी पुनर्स्थापना भी हो सकती है और कालान्तर में सम्पत्ति सम्बन्ध भी वापस पूंजीवादी रूप ग्रहण कर सकते हैं। लेकिन इसके बावजूद, उत्पादन सम्बन्धों का सबसे प्रमुख आयाम सम्पत्ति सम्बन्ध ही होते हैं, यानी legal-juridical property relations। यह दीगर बात है कि अकेले सम्पत्ति सम्बन्ध ही उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते हैं। लेकिन देखिये कि सुखविन्दर क्या कहते हैं:

> *"वह (सम्पत्ति सम्बन्ध) उत्पादन का संबंध नहीं हैवह कानूनी संबंध है। एक पब्लिक सेक्टर में भी , ज ,ऐसी बुर्जुआज़ी हो सकती हैो लोगों का अधिशेष मूल्य निचोड़ती रह सके। और देरसवेर वह - वह जो सुपरस्ट्रक्चर होता ,जो ढाँचा है हैउसे अपने बेस के अनुकूल ,राज्यसत्ता का चरित्र होता है , हो जाना होता है।"*

सुखविन्दर दावा करते हैं कि राजकीय संपत्ति कानूनी संबंध है, न कि उत्पादन संबंध। यह एकदम ग़लत है और स्वत:स्फूर्ततावादी समाजवाद व सहकारी समाजवाद के सिद्धान्त की ओर ले जाता है, जो कि मालिकाने के सम्बन्धों को बदले बिना श्रम विभाजन को बदलने, 'वर्कप्लेस डेमोक्रेसी' स्थापित करने वगैरह की बात करते हैं। निश्चित तौर पर, उत्पादन सम्बन्ध का केन्द्रीय उपादान सम्पत्ति सम्बन्ध ही होते हैं। संशोधनवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की ग़लती यह नहीं है कि वह सम्पत्ति सम्बन्धों को उत्पादन सम्बन्धों का हिस्सा मानता है, बल्कि यह है कि वह सम्पत्ति सम्बन्धों को ही समूचा उत्पादन सम्बन्ध मानता है। लेकिन सुखविन्दर ने तो सम्पत्ति सम्बन्धों को ही उत्पादन सम्बन्धों के दायरे से बाहर कर दिया! यह है सुखविन्दर की समझदारी!

इसके बाद उपरोक्त उद्धरण में ही सुखविन्दर कहते हैं कि आर्थिक आधार बदल जाता है और उसके बाद धीरे-धीरे अधिरचना भी बदल जाती है। **यह भी भयंकर संशोधनवादी तर्क है क्योंकि यहां हम राजकीय अधिरचना की बात कर रहे हैं, जो कि आर्थिक आधार को बदलने की पूर्वशर्त होती है न कि वह आर्थिक आधार के बदलने के बाद बदलती है। इस प्रकार का तर्क फिर से संशोधनवादी और अर्थवादी नतीजों तक ले जाता है। राज्य का चरित्र पहले बदला, फिर उसके बाद आधार का रूपांतरण शुरू हुआ था। ऐसा हमेशा होता है: राज्य के चरित्र के परिवर्तित हुए बिना, आधार के निर्णायक रूपांतरण की शुरुआत नहीं हो सकता है। ऐसा इस प्रकार होता है : क्रांति (या प्रतिक्रान्ति) के जरिये राज्य का चरित्र बदलता है -> संपत्ति सम्बन्ध रूपांतरित होता है (हालांकि पूंजीवादी पुनर्स्थापना के कई मामलों में इसे औपचारिक रूप हासिल करने में समय लगता है) -> विचारधारात्मक और सांस्कृतिक अधिरचना रूपान्तरित होती है और उसी हद तक उत्पादन सम्बन्ध के बाकि दो आयाम बदलते है, यानी कि श्रम विभाजन और वितरण के सम्बन्ध।** यानी, सुखविन्दर ने क्रान्ति का, मूलाधार और अधिरचना के सम्बन्ध का, राज्य के पूरे मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों का ही अपनी अज्ञानतावश एक मूर्खतापूर्ण संशोधनवादी विकृतिकरण कर डाला है, जबकि वह दोन किहोते के समान निकले थे जगरूप के संशोधनवाद दलन अभियान में!

एक जगह सुखविन्दर कहते हैं कि समाजवादी समाज में पूंजीवादी पुनर्स्थापना क्यों होती है इसका जवाब *केवल एक ही व्यक्ति ने दिया*: कॉ. माओ।

यह भी सही नहीं है। माओ से पहले लेनिन ने इस बारे में लिखा और विश्लेषण किया था। लेनिन ने विस्तार से बताया है कि सोवियत राज्यसत्ता के पहले कुछ वर्षों के अनुभवों ने ही रूसी कम्युनिस्टों को यह सिखाया कि समाजवादी संक्रमण की अवधि उससे कहीं ज्यादा लम्बी होगी, जितनी कि मार्क्स ने, एंगेल्स ने और शुरू में स्वयं लेनिन ने कल्पना की थी और इस पूरी अवधि में वर्ग संघर्ष नये और तीखे रूपों में जारी रहेगा और इस बात का फैसला होने में कई दशक या कुछ सदियां भी लग सकती है कि इस संघर्ष में कौन विजयी

होगा। लेनिन ने इशारों में यह भी कहा था कि मानसिक व शारीरिक श्रम के बीच विभाजन को खत्म करना, गांव व शहर तथा उद्योग व कृषि के बीच के अन्तर को खत्म करना समाजवादी संक्रमण के अहम कार्यभार हैं। माओ ने चिन्तन के इन्हीं सिरों को पकड़ा और विकसित किया और पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने के सम्भव तरीकों पर चिन्तन को विकसित किया, जिसे हम महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त के रूप में जानते हैं। यहाँ तक की माओ ने भी कहा था कि समाजवादी क्रान्ति के बाद पूंजीवादी पुनर्स्थापना की सम्भावना के बारे में सोचने की शुरुआत वास्तव में लेनिन से ही होती है। सुखविन्दर को मूर्खतापूर्ण अतिशयोक्तियों में बात करने की आदत है और यहां पर भी उन्होंने यही किया है।

झ. राज्यसत्ता के अंगों के विषय में सुखविन्दर की आश्चर्यजनक अनभिज्ञता

राज्यसत्ता के अंगों के विषय में जानकारी भी बुनियादी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की शिक्षा का एक अंग है। हम सभी जानते हैं कि लेनिन राज्यसत्ता के अंगों यानी उसकी विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की बात करते हैं और बताते हैं कि कार्यपालिका असल काम करती है, जिसमें औपचारिक तौर पर सरकार भी शामिल है, लेकिन वास्तव में, नौकरशाही, सैन्य शक्तियां, पुलिस बल, आदि शामिल हैं और असली खाने के दांत वहीं हैं। सरकार शासक वर्गों की मैनेजिंग कमेटी की भूमिका निभाती है और एक बुर्जुआ जनवादी व्यवस्था में कुछ वर्षों में बदल जाती है, जबकि नौकरशाही, सशस्त्र बल, सेना, पुलिस आदि उसके स्थायी निकाय हैं। इसके अलावा, बुर्जुआ संसद व विधानसभाएं विधायिका की भूमिका निभाते हैं, जिनका कार्य है कानून बनाना। और अन्त में है न्यायपालिका जो कि बुर्जुआ वर्ग के भीतर विवाद को कानूनी औपचारिक तौर पर निपटाती है और साथ ही बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच विवाद की सूरत में भी कानूनी समानता का ढोंग करते हुए *आम तौर पर* बुर्जुआ हितों को संरक्षित करती है। यह सब इमले के समान है। लेकिन सुखविन्दर इस पर क्या समझदारी रखते हैं? आइये देखते हैं।

सुखविन्दर एक स्थान पर बोलते हैं:

> *"राज्य के चार अंग हैं अदालते ,जेल ,हथियारबंद शक्तियाँ –ं और न्यायपालिकायह कभी नहीं , बदलती है।"*

गलत! व्यवस्थित व श्रेणीबद्ध ढंग से, राज्य के तीन संघटक अंग होते हैं: विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। सशस्त्र बल और जेल कार्यपालिका की श्रेणी में ही आते हैं और अदालतें न्यायपालिका का हिस्सा होती है। सुखविंदर विधायिका (संसद और विधान सभा) के बारे में चर्चा तक नहीं करते हैं

और न ही सरकार की चर्चा करते हैं, जोकि कार्यपालिका ही अंग है, हालांकि सबसे अहम अंग नहीं। ज़ाहिर है कि सुखविन्दर राज्यसत्ता के लेनिनवादी सिद्धान्त की बुनियाद को भी नहीं समझते हैं।

फिर एक जगह सुखविन्दर बोलते हैं कि पार्लियामेण्ट शासक वर्ग की कमेटी है, शासन तो वह राज्यसत्ता के ज़रिये करती है। ग़लत। राज्यसत्ता की कार्यपालिका शासक वर्ग की प्रबंधन समिति होती है, पार्लियामेण्ट नहीं। विधायिका संसद है, सरकार उसमें से ही बनती है, लेकिन स्वयं सरकार कार्यपालिका का अंग है। यह बात मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में ही समझाई है और इस प्रकार की ग़लती कोई ऐसा व्यक्ति ही कर सकता है जिसने 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' जैसे आरंभिक टेक्स्ट का भी गम्भीरता से अध्ययन न किया हो।

-

तो यह है सुखविन्दर की द्वन्द्वात्मक व ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्तों के बारे में समझदारी। राज्य के सिद्धान्त के विषय में भी उनके द्वारा किया गया कचरा ऐतिहासिक भौतिकवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के विषय में उनकी पूर्ण अनभिज्ञता का ही परिणाम है। लेकिन आपको जानकर ताज्जुब होगा कि अभी हमने सुखविन्दर के इस व्याख्यान के असली जलवों को देखा ही नहीं है, जोकि वह राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में करते हैं। अगले हिस्से में हम राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उनके "एडवेंचर्स" की करीबी से पड़ताल करेंगे।